याज्ञवल्क्य "ओ३म्" प्रोक्त

शतपथ सुभाषित

व्याख्यानमाला

ऋक् यजुः

ओ३म्

साम अथर्व

डा. वेदपाल सुनीथ

सम्वत् २०५१ मूल्य 10 रुपये

शतपथ और उसके प्रवक्ता

महाभारत युद्ध के पूर्व महर्षियाज्ञवल्क्य का आविर्भाव वेदों के उद्धार के लिये हुआ। उन्होंने मूलवेदों की पुनः प्रतिष्ठा की तथा मन्त्रों के गुह्य भावों का प्रवचन किया। उनके यजुर्वेद के व्याख्यान का नाम ही शतपथ ब्राह्मण है। यजुर्वेद के इस ब्राह्मण में सौ अध्याय हैं अतः यह शतपथ कहलाया। महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने इस यजुर्वेद व्याख्यान को माध्यन्दिन, कण्व तथा कात्यायन आदि १५ शिष्यों को पढ़ाया। इन्हीं १५ शिष्यों ने इस यजुर्वेद की १५ शाखा स्थापित की अतः शतपथ ब्राह्मण के भी १५ प्रवचन हुये। वर्तमान में याज्ञवल्क्य प्रोक्त शतपथ की केवल दो शाखा उपलब्ध होती हैं, एक माध्यन्दिन शतपथ तथा दूसरा काण्वशतपथ। माध्यन्दिन शतपथ की प्रसिद्धि अधिक है। इसी पर सायणाचार्य ने भाष्य लिखा था। प्रस्तुत सुभाषित भी माध्यन्दिन शतपथ के हैं। शतपथ में काण्ड प्रपाठक ब्राह्मण तथा कण्डिका और काण्ड अध्याय ब्राह्मण एवं कण्डिका यह दो प्रकार का विभाग है। हमने अध्याय वाला विभाग लिखा है। माध्यन्दिन शतपथ का संक्षेप मा. श. पाद टिप्पणी में लिखा है।

शतपथ सुभाषित

व्याख्यानमाला

लेखक

डॉ. वेदपाल सुनीथ

प्रकाशक

प्राच्यवैदिकविद्या-अनुसंधान पीठ

तिलोरा (पुष्कर क्षेत्र), राजस्थान

प्रकाशक :—
प्राच्यवैदिकविद्या-अनुसंधान पीठ
तिलोरा (पुष्कर क्षेत्र)
अजमेर (राजस्थान)—३०५०२२

चौधरी चेरिटेबल फाउण्डेशन के सौजन्य से

प्राप्ति स्थान
१. **वैदिक पुस्तकालय**
दयानन्द आश्रम, केसरगंज, अजमेर

२. **गुरुकुल महाविद्यालय**
झज्जर (रोहतक)—हरयाणा

संस्करण : द्वितीय, २०००
संवत् २०५१ वि., सन् १९९४ ई.

मूल्य : दस रुपये

मुद्रक :—
सतीशचन्द्र शुक्ल
प्रबन्धक : वैदिक यन्त्रालय
केसरगंज—अजमेर

वन्दनम्

सर्गारम्भे मनुष्याणां कल्याणाय दयानिधिः ।
प्रकाशयद्धि यो वेदान् तं वन्दे परमेश्वरम् ॥ १ ॥

यागानां वास्तवं येन श्रौतानामार्षं मेधया ।
विवृत्त याज्ञवल्क्येन श्रद्धया तं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

तपोविज्ञानपूतात्मा वेदार्थानां प्रकाशकः ।
प्रणूयते दयानन्द ऋषिकोटिमुपागतः ॥ ३ ॥

प्रज्ञाबलेन सम्प्राप्य श्रौतमर्थमदात् पुनः ।
बुद्धदेवं गुरुं वन्दे मह्यं कारुण्यविग्रहम् ॥ ४ ॥

या हि स्नेहातिरेकेण शिक्षादानपुरस्सरम् ।
पालयति स्म माता मे तां नौमि सत्यवत्सलाम् ॥ ५ ॥

नादात् केवलं जन्म धर्ममपि त्वबोधयत् ।
तमहं पितरं वन्दे शक्मचन्द्रं[1] सुधार्मिकम् ॥ ६ ॥

विग्रहि जातमौदार्यं तपो यत्र विराजते ।
सर्वानन्दञ्च तं वन्दे यतीन्द्रं मोहवर्जितम् ॥ ७ ॥

सत्प्रेरणा प्रदातारं मम कृतेऽतिवत्सलम् ।
ओमानन्दं यतिं वन्दे तपसां देहरूपकम् ॥ ८ ॥

अध्याप्य शब्दशास्त्रं यः श्रुतौ सम्यगवेशयत् ।
विवेकानन्दमावन्दे कर्तारं तं कृपां पराम् ॥ ९ ॥

अहो यत्र तु ब्रह्मण्यं सम्प्रत्यपि विराजते ।
तं श्री मीमांसकं[2] वन्दे ममोत्प्रेरणस्रोतसम् ॥ १० ॥

---

१. हुकमचन्द्र इति तु अपभ्रंशः ।
२. पं. युधिष्ठिरः

शतपथ ही है वेदपथ !

शतपथ वास्तव में वेदपथ है। इसके अध्ययन से वेदों को समझने की दृष्टि मिलती है। शतपथ से वेद और लोक दोनों का सामञ्जस्य बनता है। ऋषिलोग जहाँ वेद के रहस्य को साक्षात् करते हैं वहीं पर लोक के प्रति करुणा से ओत-प्रोत होते हैं। वे लोक-मानस को समझते हुए सरल, सहज उपाय से उस रहस्य को उन तक पहुंचा कर लोकोपकार करते हैं। वे अपने ज्ञान प्रकाश से सत्कार्य की प्रेरणा और सन्मार्ग के दर्शन कराते हैं। ऋषि अपने निस्संशय ज्ञान से मनुष्य के सन्देह का निवारण करते हैं। ऐसे सन्देह जो मनुष्य को किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनाते हैं उनका निवारण व निराकरण हुए बिना मनुष्य सही मार्ग पर नहीं चल सकता। ऐसे संदिग्ध स्थलों का स्पष्टीकरण इस पुस्तक में मिलता है। देव क्या हैं, वे जड़ हैं या चेतन, देवों का भोजन क्या है? यज्ञ का वास्तविक स्वरूप क्या है? व्यक्ति अच्छा करता हुआ भी श्रेष्ठ भावों के अभाव में असफल कैसे हो जाता है? कर्म श्रेष्ठ ज्ञान के बिना इच्छित फल नहीं दे सकता। स्वर्ग क्या है? स्वर्ग तक कैसे पहुंचा जाता है, विचार की शक्ति अकल्पनीय है आदि इस प्रकार के जन-जन के जीवन में सार्थकता लाने वाले प्रश्नों का समाधान शतपथ के सूत्रों में मिलता है। आदरणीय विद्वान डॉ. वेदपाल सुनीथ ने इन सूत्रों को सरल, मनोहारी शैली में आख्यानों से अलंकृत कर प्रस्तुत किया है। इससे जहाँ शतपथ की गम्भीरता और उपादेयता पाठक की समझ में आती है वहीं आचार्य जी के पुरुषार्थ व उनकी विषय के समझने और समझाने की योग्यता का ज्ञान भी होता है।

निश्चय ही यह छोटी-सी पुस्तक पाठकों के जीवनपथ को प्रशस्त करेगी। यही इस पुस्तक की सफलता है। पण्डितजी की लेखनी गंगोत्री बनकर वेदज्ञान की गंगा से पाठकों को आप्लावित और अल्हादित करती रहे, यही कामना है।

धर्मवीर
संयुक्तमन्त्री,
परोपकारिणी सभा, अजमेर

प्राच्यवैदिकविद्यानुसंधान पीठ
(परिचय व योजना)

राजस्थान की मरुभूमि में पुष्कर क्षेत्र का एक विशिष्ट स्थान है, चारों तरफ से पर्वतमालाओं द्वारा घिरा यह क्षेत्र मधुर एवं स्वास्थ्यप्रद जल से युक्त है, गुलाब के फूलों की यह घाटी सदा महकती रहती है। बहुविध वृक्षों के बड़े-बड़े उद्यान की इस क्षेत्र की रमणीयता बढ़ाते हैं। वर्षा ऋतु में यह पुष्कर क्षेत्र अपनी अद्भुत छटा से दर्शकों के मन को मोह लेता है। कभी इसी क्षेत्र के पर्वतों से निकली सरस्वती नामक सरिता सदानीरा होकर बहती थी। इसी क्षेत्र के अजमेर से नागौर-बीकानेर की ओर जाने वाले राजमार्ग (सड़क) पर पुष्कर से ५ किलोमीटर आगे तिलोरा ग्राम आता है। इसी तिलोरा ग्राम की भूमि पर सरस्वती नदी के उत्तर तट की ओर किशनपुरा मार्ग पर अनुसंधान पीठ की स्थिति है।

पीठ के मुख्य कार्य

१. पाणिनिशाला का संचालन :—

वेद प्रभु की सर्वज्ञानमयी वाणी है। वेदों के यथार्थबोध के लिए पाणिनि मुनि का व्याकरण और उस पर लिखा पतञ्जलि मुनि का महाभाष्य प्रमुख स्थान रखता है। बिना पाणिनि व्याकरण के वैदिक वाक् का सूक्ष्म रहस्य कदापि ज्ञात नहीं हो सकता एतदर्थ पीठ एक पाणिनि शाला की सञ्चालना करती है जिसमें पाणिनीय व्याकरण के सम्पूर्ण अध्ययन की व्यवस्था है। इस शाला में मेधावी, सुशील, जिज्ञासु छात्रों को ही प्रवेश दिया जाता है जिनसे आशा की जाती है कि वे अपना सम्पूर्ण जीवन वेद विद्या के अनुसंधान तथा उसके प्रचार प्रसार के लिए अर्पित करेंगे। उच्चकोटि के वैदिक विद्वान् तैयार करने की पाणिनिशाला प्रथम कड़ी है। आप पाठकगण भी इस योजना को

सफल बनाने में अपना योगदान करके पुण्य के भागी बनें। आप अपने मेधावी होनहार पुत्र को पाणिनि शाला में प्रविष्ट करा कर वैदिक धर्म की सर्वोत्तम सेवा कर सकते हैं अथवा किसी वैदिक विद्वान् बनने वाले विद्यापिपासु प्रबुद्ध छात्र के लिये स्थायी रूप से निधि स्थापित कर या मासिक सहायता देकर भी इस पवित्र कार्य में सहयोगी बन सकते हैं। एक छात्र पर वर्त्तमान में मासिक व्यय ५००/- आता है।

२. शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों के व्याख्यान की महती योजनाः— वेदों का सबसे विस्तृत ऋषि प्रणीत व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। याज्ञिक प्रकिया (प्रतीकात्मक) द्वारा मन्त्र व्याख्या की यह ब्राह्मण पद्धति प्राचीन काल में अतिरोचिष्णु एवं सुखग्राह्य थी परन्तु वर्त्तमान में परम्परा विलोप के परिणामस्वरूप ब्राह्मण शैली का व्याख्यान अति दुर्बोध हो गया इतना ही नहीं अपितु आर्ष परम्परा के लुप्त होने से बेसमझ लोगों ने ब्राह्मणों के व्याख्यान को अन्यथा समझ कर अर्थ का अनर्थ कर दिया जिससे सामान्य जनों में, मध्य काल में वैदिक धर्म के प्रति अनास्था फैल गई परन्तु जिन विद्वानों ने इन ब्राह्मण ग्रन्थों को गहराई से पढ़ा उन सबने इनको उच्च कोटि के विज्ञान ग्रन्थ बताया। अभी तक भी इन विज्ञान पूर्ण वेद व्याख्यान के अमूल्य ग्रन्थों का यथातथ्येन अर्थ प्रकाशन नहीं हो पाया है। अनुसन्धान पीठ के अन्तर्गत ही गुरुकुल कांगडी के प्रख्यात स्नातक स्वामी समर्पणानन्दजी के सुयोग्य शिष्य आचार्य श्री वेदपालजी सुनीथ शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थ मीमांसा एवं श्रोत सूत्रों के अनुशीलन, शोधकार्य व भाष्यलेखन में संलग्न हैं। शतपथ व यजुर्वेद से सम्बन्धित विषय पर पंजाब विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त किये, अध्ययन के व्यसनी, धुन के धनी श्री आचार्यजी लगभग २५ वर्षों से इस सारस्वत यज्ञ के लिये समर्पित हैं। ऐसे बृहदतम कार्य में निश्चित ही सहायक आर्ष ग्रन्थों की आवश्यकता होती है। ये ग्रन्थ आजकल बहुत मूल्य से प्राप्त होते हैं। पुनः लिखित ग्रन्थों

का प्रकाशन भी पीठ का दायित्व हो जाता है । पूज्य आचार्यजी का स्वभाव प्रारम्भ से ही ऐसा है कि वे स्वपरिचित जनों से भी धन याचना में संकोच करते हैं। यह तो आप पाठकों का ही कार्य है कि आप वैदिक धर्म के इस महान् यज्ञ में आहुति देकर स्वकर्त्तव्य को पूरा करें। वेद विद्या के इस पवित्र कार्य के लिये क्या आप अपने धन का कुछ अंश अर्पित करने का साहस नहीं करेंगे ?

अर्पित सहायता इस पते पर भेजें—

आचार्य, पाणिनि शाला,
तिलोरा (पुष्कर क्षेत्र) अजमेर (राज.)

—ब्रह्मचारी आनन्दार्यः
व्यवस्थापक
प्राच्यवैदिकविद्यानुसंधान पीठ
तिलोरा (पुष्कर क्षेत्र), अजमेर-३०५०२२

—: विषय सूची :—

१. देव कौन हैं ?

देव किसे कहते हैं सचमुच यह एक जटिल प्रश्न है। कुछ लोग तो कहते हैं देव इस पृथ्वी लोक के वासी नहीं, वे तो स्वर्ग में रहते हैं। जब हमने उनसे पूछा कि शास्त्रों में तो लिखा है कि **"दिवि वै सोम आस अथेह देवाः"**[1] सोम स्वर्ग में था तथा देव यहां पृथ्वी पर ही रहते थे, और जब तुम यज्ञ करते हो, तो मन्त्र बोलते हो **"विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत"** अर्थात् सब देव तथा यजमान यज्ञ करने के लिये बैठें, तो भला जब शास्त्र ही इन्हें धरती पर बता रहे हैं तो तुम कैसे कह रहे हो कि देव कहीं दिव्य लोकों के वासी हैं ? वे बोले—"इस तरह देव और मनुष्य में कोई अन्तर नहीं रहा, मनुष्य भी पृथ्वी पर रहते हैं, यज्ञ करते हैं, और देव भी यहीं पर रहते हैं खाते हैं, पीते हैं और बच्चे पैदा करते हैं तो फिर जो महिमा शास्त्रों में देवों की गाई गयी है—क्या वह झूठ है ?" तो हमने उनसे कहा—"बात ठीक है यह समझना बड़ा कठिन है कि देव कौन है और मनुष्य कौन ?" इस रहस्य को तो शास्त्र बनाने वाले ऋषि ही समझा सकते हैं। उनसे ही पूछना चाहिये। "परन्तु अब तो वे इस संसार में रहे नहीं" कैसे पूछें ? हमने कहा—हम उनसे आज भी बात करा सकते हैं तो वे बोले—यह असम्भव है। हमारा उत्तर था—"नहीं" उनके ग्रन्थ आज भी उपदेश देते हैं राह और पहचान बताते हैं, यह देखो महर्षि याज्ञवल्क्य जो महान् ऋषि थे—उन्होंने शतपथ ब्राह्मण में वेदों का व्याख्यान किया है। इस शतपथ ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही महर्षि कहते हैं—"मनुष्यों को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है"[2] मनुष्य बोले—ये तो बड़े विचित्र ऋषि हुये—आज तक तो हम यही सुनते थे कि शूद्रों को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है, पर इन्होंने तो सब पर पानी फेर दिया।

---

१. मा. श. ३-२-४-१

२. अमेध्यो वै पुरुषः।

ऋषि का शास्त्र बोल पड़ा "वेदों का उपदेश यही है, शास्त्रों का सन्देश भी यही है कि मनुष्यों को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है।"

मनुष्य बोले—क्यों ?

महर्षि बोले—मनुष्य उसे कहते हैं जो अपनी बुद्धि एवं विद्या से स्वार्थ सिद्धि करने में तत्पर हों। देखो—यह वैद्य मनुष्य है, पानी के रुपये बना रहा है, दो पैसे की दवा को बीस रुपये में दे रहा है, पूछने पर औषधि को अतीव मूल्यवान् बताता है। और यह देखो पढ़ा-लिखा वकील है, दिन भर यह दिमाग से विचार-विचार कर चोरों को छुड़वाता है और हत्यारों को बचाता है।

"यदि ऐसे मनुष्य बड़े-बड़े यज्ञ भी रचा लें, यजमान भी बन जायें, तो क्या स्वर्ग में पहुंच जायेंगे।" मनुष्य बोले—आप सच कहते हैं, ऐसे जन स्वर्ग में नहीं जा सकते, पर इस पृथ्वी पर देव कौन है ? यह तो हमें बतायें। ऋषि बोले सुनो :—

"सत्य वै देवा अनृतं मनुष्यः !"[१]

जिनके आत्मा में सत्य प्रतिष्ठित है वे देव हैं, और जो अपने कार्यों को सिद्ध करने के लिये अनृत का सहारा लेते हैं, वे मनुष्य हैं। यथार्थ ज्ञानवान् ही चिन्तन करके सत्य को धारण करता है इसलिये तो कहा है :—**"विद्वांसो हि देवाः"[२]** अर्थात् विद्वान् ही देव हैं। ऐसे पुरुष इस संसार में रहते हुए भी स्वर्ग में हैं, मरने पर भी वे अमर हैं क्योंकि उनका सत्यमय जीवन हजारों वर्षों तक मनुष्य को देवत्व प्राप्ति की प्रेरणा करता रहता है। मनुष्य बोले:—"ठीक है-ठीक है महर्षे ! इसीलिये हम धनवान् होते हुये भी दुःखी हैं, पुत्र पौत्रवान् होते हुये भी अशान्त हैं।" महर्षि बोले—"यदि सच्चा सुख चाहते हो तो सत्य को अपनी आत्मा में धारण करो, और देवत्व को प्राप्त करो यही स्वर्ग प्राप्ति का वास्तविक मार्ग है" ! !

१. मा. श. १-१-१-४

२. मा. श. ७-६-१०

२. देवों की अमृत हवि क्या है ?

हमने शतपथ का पाठ आरम्भ किया। ऋषि का लेख मिला—

जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानाम् ।[1]

अर्थात् अमर देवों की हवि जीवन्त और अमृत होती है। देवों के अमर होने की बात भी हमारी समझ में न आई थी कि एक और समस्या ने हमें घेर लिया। हमने सोचा अग्नि, वायु आदि देवों को यथाकथञ्चित् चिरस्थायी होने से अमर माना जा सकता है पर इन देवों के निमित्त दी जाने वाली घी यव तण्डुल (चावल) रूप हवि का अमृत और जीवन्त होना सम्भव नहीं। हम इस समस्याव्यथा से व्याकुल थे। किसी भद्र ने बताया—शतपथ के वचनों का रहस्य समझना आसान नहीं। देखो गुरुकुल कांगड़ी के मेधावी स्नातक पण्डित बुद्धदेव विद्यामार्तण्ड ने शतपथ के गहन विज्ञान में प्रवेश पाया है। वे तुम्हारी समस्या का समाधान कर सकते हैं। हम पण्डितजी के चरणों में उपस्थित हुये और विनयपूर्वक पूछा—भगवन् ! यजुर्वेद के व्याख्याता महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने शतपथ में देवों को दी जाने वाली हवि जीवन्त और अमृत बताई है। हे शतपथ के ज्ञाता विद्वन् ! घी, जौ चावल आदि हवि द्रव्यों का जीवन्त या अमृत होना समझ में नहीं आता। महा पण्डित भी हमारी शङ्का को सुन गम्भीर हो गये। वे शान्तभाव से कहने लगे—भद्र ! वेदों का विज्ञान् अद्भुत है। ऋषियों का वेदव्याख्यान सरलसुगम होते हुए भी अतिगूढ है। हमने पूछा—भगवन् ! ऐसा क्यों ? ऋषि तो कारुणिक थे, उन्होंने ऐसा दुर्बोध प्रवचन क्यों किया ? पण्डितजी बोले—भद्र ! सुनो—गुरुपरम्परा के लोप हो जाने से आज ऋषि का सुखग्राह्य प्रवचन भी दुर्ज्ञेय हो गया। पर आज भी ऋषि के तात्पर्य को समझा जा सकता है। हमने पूछा—कैसे ? पण्डितजी बोले—

---

१ मा. श. १-२-१-२०

ऋषि ग्रन्थों के निरन्तर स्वाध्याय से आज भी उनका समझना सहज है। हमारे मन में आशा का दीप जला और अपनी शङ्का के समाधान सुनने की उत्सुकता प्रकट की। पण्डितजी बोले—भद्र ! सावधान चित्त से सुनो—देव तीन प्रकार के हैं। अग्नि, वायु आदि जड़ देव हैं तो दूसरे मनुष्य देव हैं। एक तीसरे देव भी हैं। ये तीसरे देव प्रकाशात्मक दिव्यगुणरूप हैं। इन दिव्यगुणरूप देवों का मूल अग्नि देव है। जैसे भौतिक अग्नि सब स्थूल पदार्थों का प्रकाशक है। ठीक उसी प्रकार पवित्र वेदों का ज्ञानप्रकाश सूक्ष्म धर्मतत्त्व का प्रकाशक है, सब दिव्य गुणों का जनक है। इस दिव्य प्रकाश कर्त्ता ज्ञानाग्नि का ही वेदों में प्राधान्येन वर्णन समझना चाहिए। ज्ञानस्वरूप होने से परमदेव परमेश्वर अग्नि कहा जाता है। प्रभु के पवित्र ज्ञान की आत्मा में प्रतिष्ठा करना ही महर्षियों का यज्ञार्थ अग्नि का आधान कहलाता है। इसी अग्नि के नानारूप ही इन्द्रादि देव हैं। हमारी आत्मा मेंप्रतिष्ठित होने वाली ज्ञान शक्तियाँ अमर परमेश्वर के गुण होने से अमर देव कथित हुये हैं। ये ज्ञान शक्तियाँ ही यज्ञकर्म की कारण हैं। इस अमृत ज्ञानाग्नि को आत्मा में उद्बुद्ध करने की आवश्यकता है। इन ज्ञानशक्तियों को हवि प्रदान करने का उपदेश देना ही महर्षि के प्रवचन का लक्ष्य है।

हमने विनयपूर्वक प्रश्न किया—हे शतपथ के विज्ञानी पण्डित ! इन प्रकाशरूप देवों की हवि घी आदि द्रव्य नहीं हो सकते पर प्राचीनकाल से आर्यजन इन्हीं पदार्थों का होम अग्नि में करते आये हैं।

पण्डित जी बोले—भद्र ! यह बाह्य याज्ञिक कर्मकाण्ड तो आन्तरिक यजन का बोध कराने के लिए ऋषियों ने कल्पित किया है। यह आन्तरिक यज्ञ के लिये होने से गौण है। इस आत्मगत ज्ञानज्योति को बढ़ाने वाले ये बाह्य घी आदि पदार्थ नहीं हो सकते। ज्ञान ज्योति को जीवन्त बनाने वाला तो ज्ञानामृत ही है।

ज्ञान भी दो प्रकार का है। एक मृत दूसरा अमृत। इन्द्रियों द्वारा कराये जाने वाला ज्ञान अमृत नहीं मृत है। जिह्वा द्वारा मिष्टान्न सेवन से

कराया जाने वाला सुख का ज्ञान आज सच है तो कल मिथ्या। यदि इन्द्रियों द्वारा कराये मिथ्या ज्ञान की हवि आपकी आत्मा में पड़ती रही तो मनुष्य यज्ञविमुख होकर असुर बन जायेगा इसलिये अमृत ज्ञान की हवियों की आवश्यकता है। जो ज्ञान आज भी सुखकारी है तो कल भी वह ज्ञान ही अमृत किं वा जीवन्त हवि है। भद्र! वह सदा सुखकर ज्ञान केवल वेद की ऋचाओं में है। देवों को तृप्त करने वाली सच्ची हवि ऋचाएँ हैं।

यही कारण है महर्षि याज्ञवल्क्य ने शतपथ के ग्यारहवें काण्ड में स्पष्ट लिखा कि-यजुर्वेद के मन्त्र ही सच्ची घी की आहुतियाँ हैं तो ऋग्वेद के मन्त्र ही सच्ची दूध की हवि है।[१] हमारी शङ्का का शङ्कु (खूंटा) निकल गया। ऋषियों के गहन विज्ञान का लाभ कर हमारी आत्मा कृतकृत्य हो गई, हमारा सिर श्रद्धा से महाविज्ञानी पण्डित के चरणों में झुक गया।

३. कल की उपासना मत कर

संसार में बहुत थोड़े ही व्यक्ति ऐसे होंगे, जिनकी अन्तर आत्मा में अपने कल्याण के भाव न उठते हों प्रायः सभी व्यक्ति कभी न कभी अवश्य यह सोचते हैं, कि मैं कल से अपनी इस बुराई को छोड़ दूंगा, अथवा कल से अमुक भद्रता को धारण करूंगा।

---

१. पय अहुतयो ह वा एता देवानां यदृचः (४)
आज्याहुतयो ह वा देवानां यद् यजूंषि (५)
सोमाहुतयो ह वा एता देवानां यत् सामानि (मा. श. ११-५-६-६)

शराबी भी कभी-कभी विचारता है कि मैं कितना पाप कर रहा हूं। सब कुछ नष्ट हो गया, स्त्री परेशान हैं बच्चे भूखे है, गाँव मोहल्ले में कोई इज्जत नहीं रही, धर्म खो दिया, बस अब कल से शराब नहीं पीऊँगा।

जुआरी जब जुए में हार कर आता है तो उसकी प्यारी पत्नी उसे कोसती है, उसके अपने बच्चे उसे घृणा से देखते हैं, तो सोचता है, मैं कितना पापी हूँ उसकी अन्तरात्मा कह उठती है अब आगे इस पाप कर्म को नहीं करूँगा।

व्यभिचारी की गति भी ऐसी ही है और देखिये—यह चोर जा रहा है, हाथों में हथकड़ियाँ डली हैं, मुँह नीचे लटकाया हुआ है। राजमार्ग पर चलने वाला हरेक व्यक्ति उसे घृणा से देख रहा है, ठीक ऐसे वक्त में चोर का मन कह रहा है—"कितनी भूल की तूने, मेहनत की रोटी खाकर इज्जत से चलता, हे प्रभु ! इस बार छुड़ा दो, आगे यह पाप नहीं करूँगा।"

यह "कल-कल की" तथा "आगे-आगे की" वार्ता (बात) प्रायः सबके साथ लगी हैं। कोई बुराइयों को छोड़ने के लिये कल का आश्रय लेता है तो कोई अच्छाई को अपनाने के लिये।

ये देखिये—एक श्रेष्ठी है, इनका जीवन धार्मिक है, इनमें शराब, मांस चोरी आदि का कोई व्यसन नहीं है, आयु साठ (६०) वर्ष के आस-पास है, बच्चे व्यापार में संलग्न हैं, धन की कोई कमी नहीं, कहने को सब कुछ है। हमने लालाजी से पूछा—आपका जीवन बड़ा अच्छा है, भगवान् ने सब कुछ आप को दिया है, हमारे प्रश्न को सुनकर लालाजी कुछ सोचकर बोले—"आप ठीक कह रहे हैं, परन्तु धन-दौलत, पुत्र-पौत्र कब तक साथ रहेंगे यह तो सब कुछ एक दिन छूट जाएगा, अब तो मुझे ईश्वर में ध्यान लगाना चाहिए, माया-मोह को छोड़ना चाहिए, सोचता हूँ "कल से नियमित ईश्वरोपासना प्रारम्भ कर दूं।"

विचार करने से ज्ञात हुआ कि सांसारिकजनों की आशाओं का केन्द्र बिन्दु "कल" है, ईश्वर का भक्त ईश्वर की उपासना में नहीं, कल की उपासना में लगा हुआ है। उत्तम स्वास्थ्य का इच्छुक नवयुवक व्यायाम को छोड़कर कल की उपासना में लीन है।

इस कल की उपासना के विचित्र दृश्य को जब महर्षि याज्ञवल्क्य की अन्तश्चक्षुओं ने देखा, तो उनके मुख-कमल से अनायास निकल पड़ा—

"न श्वः श्वमुपासीत को हि मनुष्यस्य श्वोवेद"[1]

ओ ! संसार के लोगों ! कल-कल की उपासना में मत लगो, क्या कोई जानता है, तेरा कल आयेगा वा नहीं ? प्रभु ने तुझे पैदा करते ही बताया था कि हे मनुष्य ! तू अपने इस धन-दौलत-कोठी को सदा साथ समझने की भूल न करना, तेरा निवास तो पीपल के चलायमान पत्ते पर है, पता नहीं—कब हवा चले और तू सदा-सदा के लिए इस पाप-पुण्य से एकत्रित भौतिक ऐश्वर्य से दूर कर दिया जावे।

इसलिए हे मनुष्य ! यदि तू महान् बनना चाहता है, कल्याण को प्राप्त करना चाहता है तो कल की उपासना को छोड़कर, आज की उपासना कर ! जो आज बुराई को नहीं छोड़ सकता उसके कल की क्या विश्वास, भला जो आज भद्रकर्म नहीं करता उसके कल की भद्रता की क्या आशा !

महापुरुषों की सफलता का रहस्य यही है कि वे जानते ही तत्काल दुरितों (बुराइयों) को छोड़ देते हैं और भद्रता को धारण कर लेते हैं।

बस देवगण अद्य (आज) प्रिय हैं तो मनुष्य श्वः (कल) प्रिय हैं !

---

१. मा. श. १-२-१-४

४. यज्ञभावों का प्रवर्तक ज्ञान कौन सा ?

जहाँ ज्ञान है वहाँ गति अवश्य है । कर्म का प्रवर्तक ज्ञान है । पर अज्ञानी भी कर्मरत देखे जाते हैं । विचार करने से ज्ञात हुआ, जहाँ उल्टा ज्ञान है वहाँ भी गति है । अतः अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं, अपितु विपरीत ज्ञान है । यह अटल सत्य है कि विना ज्ञान या उल्टे ज्ञान के मनुष्य की कर्म में प्रवर्तना नहीं ।

संसार पर जब हमने गहरी दृष्टि डाली तो दो प्रकार के मनुष्य स्पष्ट दिखाई दिये । एक तो देखिये यह मनुष्य है—इसे मनुष्य नहीं अपितु लोग राक्षस कहते हैं । हजारों-लाखों वर्ष बीत गये पर आज भी लोग इससे घृणा करते हैं । इसका नाम तक इतना निन्दित हो गया कि कोई माता अपने पुत्र का नाम रावण नहीं रखती । अन्य लोगों की बात छोड़ो इसके सगे भाई तक ने इसके मरने पर इसका दाह-संस्कार करने से मना कर दिया । पूछने पर उसने बताया—यह नीच मन्त्रपूर्वक अग्नि में जलाने योग्य नहीं । लोगों ने पूछा—क्यों ? तो उत्तर दिया, पूछते क्या हो, क्या तुम नहीं जानते इस अधम ने बहुत समझाने पर भी सीता जैसी देवी का अपहरण कर उसे महासन्ताप दिया था । ऐसा नीच मनुष्य नहीं अपितु राक्षस है ।

पाठकवृन्द ! सोचिए रावण ऋषिवंश में उत्पन्न होकर भी ऐसा नीच राक्षस क्यों बन गया ? धर्म को छोड़ वह अधर्मी क्यों हो गया ?

और इधर भी देखिए—यह श्रीराम है । आज राक्षस राज रावण से तिरस्कृत हुआ उसका भाई विभीषण श्रीराम के चरणों में प्रणाम करता है । श्रीराम शरणागत विभीषण को आशीर्वाद देते हैं—'लंङ्कापति भूंयाः' तुम लङ्का के राजा बनो । पास में बैठा सुग्रीव मुस्कराकर बोला—श्रीराम आप बड़े भोले हैं । श्रीराम ने पूछा—कैसे ? सुग्रीव बोले—

हे कौशल्या नन्दन श्रीराम ! कल तो आप घोषणा करा रहे थे कि यदि लङ्कापति रावण सीता को लौटाकर धर्माचरण का व्रत ले लेता है तो मैं बिना युद्ध किये सीता को लेकर चला जाऊँगा। यदि कहीं रावण आपके शरणागत हो गया तो—हे दशरथ नन्दन श्रीराम ! पुनः कहो लङ्का का राज रावण को दोगे अथवा विभीषण को। श्रीराम ने गम्भीरवाक् से उत्तर दिया—हे सुग्रीव ! सुनो, यदि रावण पापाचरण को त्याग धर्म पथ पर चलने का व्रत धारण कर लेता है तो आज रघुवंश में जन्म ग्रहण करने वाला दशरथ पुत्र राम घोषणा करता है कि वह रावण को कहेगा—'अयोध्यापतिर्भूयाः' हे रावण ! तुम अयोध्या के सम्राट बन जाओ। हम रघुवंशी राज नहीं धर्म चाहते हैं। श्रीराम के इस महान् घोष को सुनकर सुग्रीव और विभीषण चकित हो गये। धर्म के साक्षात् विग्रहरूप श्रीराम के चरणों में उनके सिर झुक गये।

भद्र पाठक गण ! विचार करो और गहराई से पुनः सोचो। श्रीराम की अन्तर्रात्मा मे इतनी बड़ी शक्ति का प्रादुर्भाव कैसे हुआ ? तो रावण का महापतन क्यों ? यदि रहस्य समझ में नहीं आता तो सुनो तत्त्ववेत्रा महर्षि याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं।

छन्दांसि समिद्धानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति।[१]

आत्मा में उद्दीप्त हुआ छन्दों (मन्त्रों) का ज्ञान देवों के लिए यज्ञ को प्राप्त कराता है। पवित्र ज्ञान ही शुभ कर्मरूप यज्ञ का उत्प्रेरक है। श्रीराम ने पवित्र वेदज्ञान का उद्दीपन अपनी अन्तरात्मा में किया था। अतः उनका जीवन यज्ञमय हो गया था। इसके विपरीत राक्षसराज रावण ने मन्त्र ज्ञान का तिरस्कार कर मानुषी बुद्धि को प्रधानता दी थी।

भद्रो ! मानुषी बुद्धि और इन्द्रियाँ कदापि धर्म बोध कराने में कृतकारी नहीं हो सकती। इन्द्रियाँ यदि सूक्ष्म धर्म की बोधिका होती तो

---

१. मा. श. १-३-४-६,

फिर कुत्ते-बिल्ली भी धर्मवेत्ता हो जाते। पर इन्हें तो अपनी जननी और भगिनी का बोध तक नहीं। अतः मानुषी बुद्धि पर विश्वासकर्त्ता रावण ऋषिवंश से भ्रष्ट हो राक्षस बन गया तो श्रीराम छन्दों के पवित्र ज्ञान का लाभ कर साक्षात् विष्णुदेव (यज्ञपुरुष) के रूप में विख्यात हो गये। इसलिए महर्षि का वचन यथार्थ तथा सारवान् है कि आत्मा में उद्दीप्त हुआ छन्दोज्ञान ही यज्ञ भावों का प्रापक है। आओ भाइयों! आओ! आज से ही पवित्र वेदज्ञान को आत्मा में धारण करने का उद्योग करें जिससे आत्मा पवित्र होता है। कल्याण को प्राप्त करता है।

५. महाशक्तिशाली कौन है ?

पाठकगण! आर्यावर्त्त विशाल देश है इसकी छाती पर अनेक सदानीरा नदियाँ बहती हैं। नदियों की विपुल जलराशि इसके हर खेत को हराभरा बनाने में समर्थ है। अनेक प्रकार के फल फूल अन्न धन उत्पन्न करने का सामर्थ्य स्वयं परमेश्वर ने इस देवभूमि को वरदान में दिया है। इस आर्यभूमि में ऊन भेड़ों पर ही नहीं अपितु कपास के रूप में पेड़ों पर भी फलती है।

पर इतिहास के इन रक्त से सने पृष्ठों पर दृष्टि डालिये। कितने दारुण हृदयविदारक हैं ये इतिहास के पृष्ठ। देखते ही आँखों में आंसू उतर आते हैं। सर्दी के दिन हैं। ऊपर से बरसात पड़ रही है तो उधर से निर्दयी चंगेजखां का वंशज बाबर अपनी सेना से लूटता मारता पञ्चनद (पञ्जाब) प्रदेश में आ घुसा है जिस धरती के वासी दुनिया को अन्न-वस्त्र देने में कभी प्रसिद्ध थे आज वे बे घरबार होकर भूखे नंगे ठिठुर ठिठुर कर अपने प्राणों से हाथ धो रहे हैं।[१]

---

१. देखिये 'बाबर नामा'

इतिहास के ये भयङ्कर पृष्ठ भी दारुणस्वर में कहते हैं—यह देखो आर्यावर्त्त की बङ्ग भूमि है। इसे सुवर्णभूमि कहा जाता था। यह भरपूर चावलों को उगाने के लिये जगत् प्रसिद्ध थी। पर आज इसका वृतान्त अति हृदय विदारी है। बङ्ग भूमि के पुत्रों द्वारा कमाये अन्न धन को विदेशी शासक मनमाने ढंग से लूट रहे हैं। अकाल पड़ गया तो घर में अन्न का दाना तक नहीं। बस्ती की बस्तियाँ उजड़ रही हैं। भूख पीडित बङ्गपुत्र मृत्यु के कराल मुख के ग्रास बन कर मर रहे हैं। इसके प्राण त्राण की कोई आशा किरण नजर नहीं आती।[1]

पाठकवृन्द ! ऐसा क्लेशकारी महाभयङ्कर दृश्य भारतवासियों को क्यों देखना पड़ा ? क्या आपने कभी सोचा यदि नहीं तो सुनो—जब तक इस आर्यावर्त्त के लोगों में यज्ञ का पवित्र भाव ओतप्रोत रहा। यहाँ राजा और प्रजा में सर्वहित का यज्ञ भाव जागृत रहा तब तक विदेशी लुटेरों की दाल इस सुवर्णभूमि में कभी नहीं गली। जरा उस स्वर्णाभा से चमचमाते इतिहास पृष्ठों को भी आंख खोल कर देखो। यह देखो शङ्कुतला के प्रतापी पुत्र भरत का शासन काल है। इस भरत ने जन्म से ऋषि आश्रमों में परहित साधक पवित्र यज्ञ भाव को आत्मगत किया है। इसके आर्य शासन में अटक से कटक तथा हिमालय से महासागर तक आबालवृद्ध नर नारी अन्न धन से तृप्त हो सकल मङ्गल का भोग कर रहे हैं। आर्यावर्त्त की यौवन सम्पन्ना सुन्दर बालाएँ निर्भय विहार करती हैं कोई उनकी ओर आंख उठाने वाला नीच पुरुष आर्यावर्त्त की भूमि में कोई नहीं।

इस गौरवपूर्ण इतिहास के पृष्ठ पर भी दृष्टिपात कीजिये। गङ्गा के तीर पर दौष्यन्तिभरत सारी धरती पर धर्मचक्र का प्रवर्तन करके आज

---

१. यह दारुण वृतान्त सन् १७७० का है जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में अकाल पड़ा था अंग्रेज लेखक Edmund Buk ने लिखा था—The country has turned in to a desert.

अश्वमेघ यज्ञ का अनुष्ठान कर रहा है।[1] समग्र पृथिवी के राजा इस धर्मधारी सम्राट् भरत के चरणों में अपनी भेंट चढाकर अपने को कृतकृत्य मानते हैं। एक बार नहीं, दो बार नही अपितु सैकड़ों बार इस आर्यसम्राट् का धर्मरथ धरती पर अपनी धर्मध्वजा गाड आया। कोई उसके धर्मरथ के चक्र को रोक नहीं सका। आर्यावर्त्त के घर घर में यज्ञ भाव के प्रवर्तक पवित्र मन्त्रों का घोष हो रहा है। शङ्कुतला सुत भरत निःस्पृह भाव से धन वैभव को ऋषि मुनि और ब्राह्मणों के लिये अर्पित कर अपने को कृतार्थ मानते हैं। किसी शत्रु की क्या शक्ति जो आर्यभूमि की ओर आँख उठाये। आर्यावर्त्तवासी अभय मुदित हो कृतार्थ हैं। हिमगिरि और विन्ध्याचल की कोख से प्रकट हुई नदियाँ उनकी ही नहीं अपितु उनके खेतों की भी प्यास बुझा रही हैं। चारों ओर सुखल शन्ति की हरियाली छायी है। क्यों? उत्तर सुनिये—महर्षि याज्ञवल्क्य के मुखारविन्द से

अयं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापत्।[2]

वह सङ्गठन, वह देश महाशक्तिशाली है जिसने यज्ञ को प्राप्त कर लिया जहाँ यज्ञ भावों का अचल निवास है। वहाँ परस्पर ईर्ष्या द्वेष का विनाशी दुर्भाव जन्म नहीं लेता। जहाँ यज्ञभाव के पवित्र रस का सञ्चार है वहाँ हृदय में दुःखदारिद्रय और पराधीनता की हेतुभूत फूट बेल के अङ्कुर नहीं फूटते। जब आर्यावर्त्त के निवासियों ने वेदोपदिष्ट यज्ञ भावों को त्याग स्वोन्द्रियतर्पक आसुरभावों को अङ्गीकार किया तो वही गङ्गा यमुना वाला देश अपनी स्वाधीनता को खो भूखा नंगा गुलाम हो गया। देशवासियों आओ यज्ञ भावों को हृदय में धारण कर शक्तिशाली बनें।

---

१. अष्ट सप्तर्ति भरतो दौःष्यन्ति र्यमुनामनु।
गङ्गायां वृत्रघ्नेऽबध्नात् पञ्चपञ्चाशतं हयान् (मा. श. १३-५-४-११)

२. मा. श. १-४-२-३

६. ब्राह्मण का महान् तप जिससे वह अजेय हो जाता है

ब्राह्मण की शक्ति अद्भुत है। उसके पास न भयभीत करने वाले अस्त्र होते हैं न शस्त्र फिर भी इसके आगे लोग नतमस्तक हैं। साधारण जनों की बात छोड़ो ! समझ रखने वाले राजा महाराजा भी इनकी चरण धूली को अपने मस्तक पर लगा कर गौरव अनुभव करते हैं। नीतिकार का मत भी इस विषय में स्पष्ट है कि राजा केवल स्वदेश में पूजित होता है जबकि विद्वान् ब्राह्मण की पूजा सर्वत्र होती है।[1] जिनके सिर पर विनाश का भयङ्कर मृत्युचक्र घूमता है, वे ही इन तेजस्वी ब्राह्मणों का तिरस्कार करने पर उतरते हैं। ब्राह्मण की इस विलक्षण शक्ति का कारण क्या है ? यदि नहीं जानते तो सुनो इसका उत्तर महर्षि याज्ञवल्क्य अपने शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार देते हैं।

एवं ह ब्राह्मणः सामिधेनीर्विद्वान् अनुब्रुवंस्तपति
अनवधृष्यो हि भवत्यनवमृश्यः।[2]

अर्थात् सामिधेनियों का ज्ञाता ब्राह्मण जब उनका पाठ करता है तो वह महान् तप करता है। इसी तप के कारण वह अधृष्य एवं अजेय हो जाता है।

हमने जब यह ऋषि प्रोक्त विज्ञानपूर्ण वार्ता कही तो एक सज्जन बोले—श्रीमन् ! सामिधेनी नाम तो यज्ञ में डाली जाने वाली विशेष समिधाओं का है। ब्राह्मण उसका अनुवचन कैसे करता है। हमने कहा भद्र ! सुनो सामिधेनी शब्द का अर्थ है—जिससे अग्नि अच्छी प्रकार उद्दीप्त हो जाये। यज्ञ कुण्ड की अग्नि सच है काष्ठों (लकड़ियों) से उद्दीप्त

---

१. स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते। चाणक्यनीति।
२. मा. श. १-४-३-२०

होती है। पर याद रखो वेद एवं ऋषियों का तात्पर्य इस बाह्य अग्नि को उद्दीप्त करने में नहीं अपितु उनका लक्ष्य आत्मस्थ ज्ञानज्योति को उद्दीप्त करना है। वेद के जिस पवित्र ज्ञान को गुरु शिष्य की आत्मा में प्रतिष्ठित करता है, वही सच्ची कल्याणकारी अग्नि है। यही कारण है ऋषि इस अग्नि को पापों को दग्ध करने वाली तथा राक्षसी भावों को मार भगाने वाली कहते हैं।[1] अतः पापनाशक अग्नि ज्ञानज्योति है। इस ज्ञानज्योति का उद्दीपन कदापि काष्ठों (लकड़ियों) से नहीं हो सकता। इसलिये असली सामिधेनियाँ ज्ञानज्योति को उद्दीप्त करने वाले मन्त्र हैं। ज्ञानज्योति का उद्दीपन करने वाले मन्त्रों का पाठ जब विद्वान् ब्राह्मण करता है तो समझो वह महान् तप करता है। उसके समस्त पापभाव इस तप से भस्म हो जाते हैं।

एक भद्र व्यक्ति ने पूछा—भगवन्! थोड़े से सामिधेनी मन्त्रों का पाठ भला महान् तप कैसे हो सकता है? हमने बहुत से पाठ कर्त्ताओं को देखा है उनमें पाप वासनाओं का अभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ। जिस धन को ज्ञानी सन्तों ने तुच्छ कहा है उसी धन के निमित्त हमने इन मन्त्र पाठ कर्त्ता पुरोहितों को कलह करते भी देखा! हमने कहा—भद्र! विश्वास करो। ऋषिवचन कदापि मिथ्या नहीं हो सकते। उनका एक-एक वाक्य सत्य की कसौटी पर परखा हुआ है। देखो कुछ ऋत्विज् मात्र धन लाभ के लिये मन्त्र पाठ करते हैं। इन ऋत्विजों की केवल जिह्वा मन्त्रपाठ करती है, मन तो धन लाभ के आशा जाल में फंसा होता है। देखो, इतरापुत्र महीदास ने अपने ब्राह्मण में स्पष्ट कहा है—'उत वा मे दद्यात्[2] अर्थात् यजमान मुझे पुष्कल दक्षिणा देगा, इस भाव से जो ब्राह्मण ऋत्विज् बनता

---

१. अग्नि र्वै पाप्मनो अपहन्ता मा. श. (२-३-३-१४)
   अग्नि र्हि रक्षसाभपहन्ता मा. श. (२-४-२-१५)

२. ऐतरेय ब्राह्मण

है, ऐसे ऋत्विज् का यजमान द्वारा वरण करना ठीक ऐसा है जैसे झूठे को खाना, ऐसा ऋत्विज् कभी यजमान की रक्षा नहीं करता।

सच्चा ऋत्विज् ब्राह्मण वह है जो सामिधेनी मन्त्रों का पाठ मन से ज्ञानपूर्वक करता है। ऐसा विद्वान् पाठकर्ता मन्त्र भावों को आत्मगत करके अपनी ज्ञानज्योति को उद्दीप्त कर लेता है। अग्नि को उद्दीप्त कर लेना ही महान् तप है। यह तप विद्वान् ब्राह्मण को अमल बना देता है। उसका तेज अद्भुत हो जाता है। साधारणजन उसके तेज के सामने खड़े होने का साहस भी नहीं कर पाते। ऐसे ही सच्चे तेजस्वी ब्राह्मण अपने राष्ट्र को अजेय बनाते हैं। इन्हीं अग्निधारक ब्राह्मणों का वरण कर यजमान कल्याण को प्राप्त करता है। जब-जब राष्ट्र में ऐसे निर्मलचित्त अग्निकल्प ब्राह्मणों का अभाव होता है, तब-तब राष्ट्र में अज्ञान के विकराल मेघ छा जाते हैं, काम क्रोध, लोभ मोह, ईर्ष्या द्वेष रूप पाप राष्ट्रवासियों को घेरकर अधम बना देते हैं। इसलिये हे भद्र पुरुषो। ज्ञान उद्दीपक सामिधेनी मन्त्रों का पाठ नित्य करो। केवल मात्र जिह्वा से नहीं अपितु हृदय की गहराई से मन्त्रघोष करो। जिससे आत्मा की ज्ञान ज्योति जगमगा जाये और समस्त पापभावों की जड़ तक दग्ध हो जाये। इसी को ऋषियों ने महान् तप कहा है। इसी से मनुष्य अनवधृष्य और अजेय बनता है।

७. देवों की विजय का रहस्य

सब कहते हैं जीवन एक संग्राम है। इस जीवन संग्राम में हार और जीत ही जीवन की असफलता और सफलता है। जो लोग हार जाते हैं

उनकी सर्वत्र अवहेलना देखी जाती है। पग-पग पर उन्हें तिरस्कार के कड़वे घूंट पीने पड़ते हैं। पराजित किंवा असफल व्यक्ति सबसे पहले अपने ही बन्धुओं में लघुता को प्राप्त कर लेता है। विजेता लोग तो पराजित का मन चाहा शोषण करते हैं। व्यष्टि और समष्टि दोनों क्षेत्र जय एवं पराजय के विशाल युद्ध-स्थल हैं। जो कहीं भी हारा बस दुःख सागर में डूबा, इसलिए सभी लोग विजय के लिए लालायित हैं, प्रयत्नशील हैं। घर में, गांव में, प्रान्त में, राष्ट्र में ही नहीं जब तक सारे विश्व में भद्र पुरुष विजयी नहीं होते तब तक क्या हम शान्ति पा सकते हैं। जब तक चारों तरफ दुष्टता का, धूर्तता का साम्राज्य है तब तक अकेला भला आदमी क्या सुख शान्ति पायेगा, जब तक चारों तरफ दुर्गन्ध है तो एक जगह ही सुगन्ध क्या फल दे सकेगी। जब हमारे आस-पास परमाणु बम फटेंगे तो हम कैसे समाधि से बैठ सकेंगे। इसलिये आवश्यकता है संसार में श्रेष्ठ पुरुषों की जीत की, जब देवों का, परहित में आनन्द लेने वालों का, साम्राज्य इस धरती पर होगा तब ही सुख-शान्ति के बादल मानव की अन्तरात्मा की पिपासा को शान्त करेंगे।

बाहरी दुनिया के समान हमारी अपनी अन्दर की दुनिया में भी घोर लड़ाइयां हो रही हैं। आप कहेंगे—यह युद्ध किन-किन का चल रहा है, तो सुनिये आसुरी एवं दैवी भावनाओं की लड़ाई हमारे मानस क्षेत्र में चल रही है। इस लड़ाई में यदि आसुरी सेना जीत गई तो यह हार बाहरी हार से भी अधिक दुःखदायी है। इस युद्ध का एक दृश्य देखिये—सोते समय देवी भावना संकल्प करती है प्रातःकाल शीघ्र उठना है, प्रभु का भजन करना है परन्तु आसुरी सेना ठीक मौके पर आक्रमण कर देती है और दैवी सेना को दबोच लेती है। बार-बार संकल्प करते हैं, पर पूरा नहीं कर पाते हार जाते हैं। वर्षों बीत गए पर सफलता नहीं मिलती, हार का कारण समझ में नहीं आता, ऐसे समय में लोगों के मुंह से सुनते हैं—मैं क्या करूं, मेरे वश की बात नहीं। हम ऋषियों की चरण-शरण में पहुंचे उनसे विनीत भाव से

हमने पूछा—हे महर्षे ! सर्वविध विजय लाभ का रहस्य हमें बताइये। बाहरी एवं आन्तरिक असुरों को हराने का सूत्र हमें बताओ। ऋषि बोले—सुनो, हमने विस्तार से शतपथ ब्राह्मण में विजय सूत्रों का उपदेश दिया है, जिसका प्रथम सूत्र यह है:—

"या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वभक्ताः पराभूता वै ता या इमाः प्रजा अपराभूता ता यज्ञे आभजति।'[1]

जो प्रजा यज्ञ की भक्त नहीं है, श्रद्धा से जो लोग यज्ञ का अनुष्ठान नहीं करते वे लोग इस संसार में सदैव पराभव के मुख को देखते हैं और जो लोग तुम्हें अपराजित दीखते हैं समझो वे यज्ञ का सेवन करते हैं। हम बोले—ऋषिवर ! हम दोनों समय प्रातः सायं यज्ञ करते हैं। ऋषि बोले यदि तुम फिर भी हार रहे हो तो तुम वस्तुतः यज्ञ नहीं करते, तुम तो यज्ञ को समझते भी नहीं। जो यज्ञ तुम करते हो वह यज्ञ नहीं अपितु यज्ञ का अभ्यास है। वह अभ्यास भी तुम ठीक से नहीं करते, क्या मन्त्रों के अर्थ को समझते हो ? क्या उन पर मनन करते हो ? यदि नहीं—तो तुम्हारे यज्ञ से कभी विजय लाभ नहीं होगा, सुनो—असली यज्ञ किसे कहते हैं—

"सामुदायिकं योगक्षेममुद्दिश्य समुदायाङ्गतया क्रियमाणं कर्म यज्ञः[2] ।"

किसी परोपकारी संगठन का सदस्य बनकर उस संगठन के लिए अपने आप को समर्पित करके जो कर्म किए जाते हैं, उन कर्मों के करने का नाम यज्ञ है, वे कर्म किस तरह किये जाते हैं उनकी शिक्षा—जो यज्ञ तुम करते हो उससे दी जाती है जो शिक्षा लेता रहे और कर्म करे नहीं अथवा शिक्षा को भी न समझे, क्या उसकी जीत होगी ? कदापि नहीं। इसलिए विजय

१. मा. श. १-५-२-४

२. शतपथ के भावों के अनुसार यह यज्ञ का लक्षण गुरुदेव स्वामी समर्पणानन्द जी द्वारा किया हुआ है।

हेतु संगठन के समर्पित होना पड़ेगा, यदि संगठन नहीं है तो बनाओ और उसमें सबसे पहले अपनी आत्मा की आहुति दो, फिर देखोगे विजय-श्री सुख समृद्धि सहित तुम्हारे पास आयेगी और चारों तरफ एक ही ध्वनि की गूञ्ज सुनाई देगी "स्वाहा-स्वाहा" बहुत अच्छा-बहुत अच्छा, वाह-वाह कमाल कर दिखाया। इसका घर नहीं स्वर्ग है इसका नगर या गांव स्वर्ग की नगरी है, ये देखो इनका देश तो साक्षात् स्वर्ग बन गया है कोई चोर नहीं, डाकू नहीं सब और भद्रता सुजनता शालीनता का ही साम्राज्य है, क्योंकि इस देश के वासी यज्ञ परायण हैं।

८. देव और असुरों के होताओं में क्या भेद है ?

एक समय था जब आर्यावर्त्त का प्रत्येक गृहस्थ याज्ञिक था। प्रतिदिन हर घर में पांच महायज्ञों का अनुष्ठान होता था। अमावस्या तथा पूर्णिमा को एक विशिष्ट यज्ञ किया जाता था। ये यज्ञ आर्यावर्त्त वासियों को मानुष-भाव से ऊपर उठाकर उन्हें देव बनाते थे। आज तो इन यज्ञों का नाम भी लोग भूल गये। दक्षिणापथ के कुछ ब्राह्मण अपना धर्म समझ कर पूर्णिमा तथा अमावस्या के यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। हमने एक बार एक विज्ञानी ब्राह्मण को ऋत्विग् वरण करते देखा। जब होता नामक, ऋत्विग् का वरण हुआ तो वह होतृपदन में उपस्थित हुआ। उसने होतृषदन (होता के बैठने का स्थान) में से एक तिनका उठाया और **'निरस्त परावसु'**[1] यह मन्त्रवाक्य बोल कर उसे वेदि से बाहर फेंक दिया। हमें इस विचित्र क्रिया को देख अति आश्चर्य हुआ। हमने विनयपूर्वक याजक ब्राह्मण से पूछा—हे विज्ञानी विप्र ! मन्त्रपूर्वक इस तिनके को बाहर फेंकने का क्या रहस्य है ?

---

१ मा. श. १-५-१-२३.

विद्वान् ब्राह्मण ने गम्भीर भाव से उत्तर दिया—भद्र ! इसका तात्पर्य अतिगूढ और महत्त्वपूर्ण है। यह होता पवित्र यज्ञ की कर्मभूमि में प्रवेश कर रहा है। ऋषियों ने यज्ञक्षेत्र वेदि को कुरुक्षेत्र कहा है। आर्यजन सच्चा कुरुक्षेत्र सर्वहित साधक यज्ञ कर्म के अनुष्ठान को ही मानते हैं। इस पवित्र कर्मभूमि में उपस्थित होने वाले होता (ज्ञान प्रदाता व्यक्ति) का प्रथम कर्तव्य है कि वह अपनी आत्मा का निरीक्षण करे। वह देखे कहीं उसकी आत्मा के अन्दर 'परावसु' नामक असुर होता का भाव तो नहीं पड़ा है। हमने पूछा—हे पूज्य ब्राह्मण देव ! असुरों का परावसु होता क्या है ? विद्वान् ब्राह्मण बोले, सुनो—वसु का अर्थ है यज्ञ।[२] सचमुच सर्वहितसाधक यज्ञकर्म ही हम सबका बसाने वाला है। सदा याद रखो, स्वार्थसाधन का नीच कर्म उजाड़ देने वाला है। जिस ज्ञान प्रदाता विद्वान् ने पवित्र यज्ञभाव को परे फेंक स्वार्थभाव को अपने अन्तःकरण में धर लिया, वह असुर होता परावसु है। ऐसे विद्वान् स्वार्थसिद्धि को ही आगे रखते हैं। जहाँ विद्वान् जनों में स्वार्थसिद्धि का नीच आसुर भाव आ गया, समझो वह देश व जाति शीघ्र उजड़ने वाली है। इसलिये आर्य विद्वान् जब होता बनने के लिये यज्ञ वेदि में प्रवेश करता है तो अपने स्थान से परावसु भाव को निकाल कर बाहर फेंक देता है। हमने पुनः विनीत भाव से पूछा—भगवन्, आर्यविद्वान् होता में इस आसुर दुष्टभाव का अवकाश नहीं हो सकता, पुनः आप इस क्रिया को क्यों कराते हैं ?

ब्राह्मणदेव ने गम्भीरता के साथ उत्तर दिया—भद्र ! यद्यपि हम आर्यजन बाल्यकाल से ही गुरुचरणों में बैठकर इस विनाशी आसुर भाव को नष्ट करने का उद्योग करते हैं। पुनरपि इस आसुर प्राण का सहचार देव-प्राणों के साथ सहज है। इस आसुर प्राण का मूलनाश आसान् नहीं। समाधिसिद्ध जीवनमुक्त योगिजन ही समग्र आसुर प्राणों का नाश करने में सफल होते हैं। हम साधारण गृहस्थ जनों के साथ तो आसुर प्राण सूक्ष्म

२ यज्ञो वै वसु; —मा. श. १-७-१-१४

रूप में सदा विद्यमान रहते हैं। खाने पीने आदि मानुषकर्मों में आसुर प्राणों का योग कुछ न कुछ अवश्य बना रहता है। पर सूक्ष्मतत्त्व के विज्ञाता, ऋषियों का स्पष्ट निर्देश है कि यज्ञक्षेत्र में प्रवेश करते ही आसुरभावों से विदूर रहने का सङ्कल्प करना अनिवार्य है। यज्ञ कर्म में प्रवृत्त होने से पूर्व आसुर भाव के स्वल्पतृणमात्र को भी बाहर करना आवश्यक है। इसलिये होता प्रतीक रूप में एक तृण को **'निरस्तः परावसुः'** वाक्य बोल कर बाहर फेंकता है।

हमने पुनः प्रश्न किया—हे विप्रदेव! असुरों को होता परावसु है तो देवों के होता का नाम क्या है?

विप्रदेव बोले—सुनो भद्र! महर्षि याज्ञवल्क्य ने वेदों के आधार पर लिखा है—

अर्वावसु वैं नाम देवानां होता तस्यैवैतत् सदने सीदति।[1]

अर्थात् देवों के होता का नाम 'अर्वावसु' है। देव होता के स्थान पर ही यह होता बनकर बैठता है। हमने पूछा—हे विद्वान्! अर्वावसु शब्द का क्या अर्थ है? विद्वान् ब्राह्मण ने उत्तर दिया—भद्र! पहले बताया था कि वसु नाम यज्ञ का है। जो विद्वान् यज्ञ को ही सामने रखता है उसी को अपना परम श्रेष्ठ धन मानता है वही 'अर्वावसु' है। जिन लोगों ने यज्ञ भावों को प्रधानता दी है। जो जन भोग के वशीभूत न होकर सदा यज्ञ को ही कर्म क्षेत्र में प्रधान रखते हैं। उनका राज्य स्थिर है, उनका ऐश्वर्य अटल है अतः आर्यजन सदा पूर्णिमा तथा अमावस्या को इस पवित्र भाव का स्मरण रखने के लिये इस तृण अपासन (बाहर फेंकने) की क्रिया को करते हैं, हमारा हृदय तृणापसन की इस क्रिया रहस्य को जानकर गद्गद् हो गया। धन्य है वैदिक ऋषियों का ज्ञान। **नमोब्रह्मभ्यो नम ऋषिभ्यः।**

इति

---

१ मा. श. १-५-१-२४

९. यज्ञ का अन्त स्वाहाकार में

आर्यावर्त्त के प्राचीनकाल की वार्ता है। महर्षि याज्ञवल्क्य के शिष्य माध्यन्दिन यजुर्वेद का प्रचार करते थे। गृहस्थ जन प्रतिदिन वायु शुद्धि के साथ आत्मशुद्धि भी करें इसके लिए वे अग्निहोत्र आदि यज्ञों का अनुष्ठान अपने शिष्यों से कराते थे। अग्नि में घी आदि उत्तम पदार्थ डालने से वायु की शुद्धि होती तो यज्ञ में बोले जाने वाले मन्त्रों से आत्म-शोधन का पवित्र कार्य भी सम्पन्न होता था। एक दिन आचार्य माध्यन्दिन जब अपना वेद प्रवचन आरम्भ करने लगे तो एक श्रावक भक्त ने पूछा—हे महर्षियाज्ञवल्क्य के प्रधान शिष्य! यज्ञों के प्रत्येक मन्त्रोच्चारण के साथ दी जाने वाली आहुति के समय 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण क्यों किया जाता है? लोक में तो इस शब्द का कोई उच्चारण नही करता, इस शब्द का क्या अर्थ है यह भी हमारी समझ में नहीं आता। हे महर्षि याज्ञवल्क्य के महान् शिष्य! आज 'स्वाहा' शब्द के उच्चारण का रहस्य प्रकट करके हमें कृतार्थ करें।

श्रावक भक्त की जिज्ञासा सुन आचार्य माध्यन्दिन प्रसन्नचित्त होकर बोले—हे श्रावक मण्डल! विना अर्थ समझे उच्चारण का कोई प्रभाव नहीं। शब्द का प्रभाव आत्मा पर तभी पड़ता है जब उच्चारणकर्त्ता व्यक्ति शब्द के अर्थ का चिन्तन करता है। अतः बोले जाने वाले प्रत्येक वेद शब्द का अर्थ जानना आवश्यक है। 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग वेदों में बहु बार आया है। आहुति अर्पण के समय 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण वेदवेत्ता ऋषियों ने आवश्यक माना है। देखो हमारे आचार्य महर्षि याज्ञवल्क्य इस विषय में कितना सुन्दर प्रवचन करते हैं—

स्वाहा स्वाहेति यजति। अन्तो वै यज्ञस्य स्वाहाकारः।[1]

अर्थात्—सदा से वैदिक जन स्वाहा स्वाहा बोलकर ही यज्ञ करते आये हैं।

१. मा.श. १-५-३-१३।

आचार्य माध्यन्दिन गम्भीर वाणी में बोले—भद्रो ! यज्ञ का अन्त स्वाहा है । केवल यज्ञ ही स्वाहा अन्त वाला है । सांसारिक भोगविलास का क्रिया-कलाप का अन्त स्वाहा में नहीं । देखो—स्वाहा शब्द का एक मुख्य अर्थ है—सु+आह सु का अर्थ है अच्छा । एक श्रावक ने पूछा—आचार्य देव सु का अर्थ अच्छा क्यों है ? आचार्य बोले, सुनो—सु नाम उन प्राणों का जो आगे कुछ नवीन कल्याणकारी शक्तियाँ उत्पन्न करें । इसके विपरीत कुछ प्राण शक्तियाँ ऐसी हैं जो मनुष्य को भोगों की ओर खींच कर ले जाती हैं । ये प्राण नूतन शक्तियों के जनक नहीं अपितु हमारी शक्तियों का विनाश करते हैं । इसलिए सु के विरोधी असु प्राण मृत्यु है तो सु प्राण अमृत है, ये ही सुप्राण भद्र है कल्याण हेतु हैं इसलिए सु का अर्थ अच्छा है, भद्र है । सु में रमण करने वाला ही सुर (देव) है तो असु में रमण करने वाला असुर । असुर स्व भोग साधक हैं तो सुर यज्ञ साधक । असुर सदा विनाशी है तो सुर अमृत । मन्त्र सदा अमृत प्रापक यज्ञकर्म का प्रेरक है । अतः ऋषिजन मन्त्र के अन्त में स्वाहा शब्द का उच्चारण यज्ञ में करते हैं । सु का अर्थ अच्छा है तो आह का अर्थ कहना । मन्त्र में जो कहा है हे श्रावको ! वह भद्र है, कल्याण कर है यज्ञभावक अमृत वचन है । मन्त्रों का उच्चारण जो जन मन से करता है वह मानों आत्मा को सच्ची ज्ञान की आहुति देता है । इसलिए शब्दतत्त्व के जानने वाले ऋषियों ने स्वाहा शब्द का एक दूसरा अर्थ 'सु' अच्छा 'आह' अर्थात् अर्पण हुआ किया है । जैसे यज्ञकुण्ड की अग्नि घी की आहुति प्राप्त करके दीप्त हो उठती है-ठीक उसी प्रकार मन्त्र के ज्ञान की आहुति आत्मज्योति में जब पड़ती है तो वह दीप्त होकर मनुष्य को पवित्र कर्म में प्रवृत्त करती है । यही कारण है ऋषि इसे सर्वोत्तम अर्पण कहते हैं ।

स्वाहा शब्द का एक तीसरा अर्थ भी ऋषियों ने बताया है—स्व-आह अर्थात् अपनी अन्तरात्मा से कहता है । जो व्यक्ति केवल जिह्वा मात्र से उच्चारण करता है और मन इधर-उधर सांसारिक पदार्थों में लगा

है तो यह मन्त्र उच्चारण स्वाहा नहीं। इस प्रकार के मन्त्र उच्चारण का कोई लाभ नहीं। इसलिये प्रत्येक मन्त्र के अन्त में स्वाहा बोलकर यज्ञकर्त्ता इस बात का ध्यान करता है कि मैंने यह मन्त्र आत्मा से बोला है। जो व्यक्ति इस प्रकार मन्त्रों को नित्य आत्मा से बोलता है उसका आत्मा शुद्ध पवित्र एवं शक्तिमान् होकर यज्ञ कर्मों का अनुष्ठान करके कृतार्थ हो जाता है। वह मृत्यु से छूट अमृत भागी हो जाता है। इसलिये ऋषि कहते हैं यज्ञ का अन्त स्वाहाकार है। सांसारिक भोग कर्म का अन्त-हन्तकार (पछतावा) है तो यज्ञ कर्म का अन्त स्वाहाकार (खूब अच्छा हुआ) इसलिये भाईयों, मङ्गल कामी हो तो यज्ञकर्म करो। श्रावक भक्त आचार्य मुख से स्वाहा शब्द के अर्थ को सुन कृतार्थ हो गये। उन्होंने श्रद्धा से आचार्यपाद को प्रणाम किया।

"इत्योम्"

१०. जीवन को सफल बनाने वाले दो तत्त्व अग्नि और सोम

जैसे सूखे आटे की रोटी नहीं बन सकती, रोटी बनाने के लिये आटे में पानी मिलाना आवश्यक है। ठीक इसी प्रकार जीवन को पूर्णता प्रदान करने वाले दो तत्त्व हैं। एक अग्नि दूसरा सोम। एक शुष्क (सूखा) तो दूसरा आर्द्र (गीला)। महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस रहस्य का प्रकाश शतपथ में इस प्रकार किया है—

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति—आर्द्रं चैव शुष्कं च। यच्छुष्कं तदाग्नेयंयदार्द्रं तत् सौम्यम्।[1]

१. मा. श. १-६-३-२३

अर्थात् पूर्णता प्राप्त कराने वाली दो ही चीज हैं, तीसरी नहीं। एक आर्द्र और दूसरी शुष्क। जो शुष्क है वह आग्नेय है तो जो आर्द्र है वह सौम्य है। प्रत्येक उपयोगी पदार्थ की रचना में अग्नि और सोम का महत्त्वपूर्ण योगदान है। पर भाईयो ! सर्वोत्तम संरचना तो जीवन निर्माण है। जीवन यदि लक्ष्य से भटक गया तो फिर दुनियावी रचनाएँ किस काम कीं। जीवन निर्माण के शुष्क और आर्द्र तत्त्वों का प्रतिपादन करना ही महर्षि याज्ञवल्क्य के शतपथ प्रवचन का लक्ष्य है। आत्मा के कल्याण पथ के निर्माता ये भौतिक आग और पानी नहीं हो सकते। इसलिये महर्षि ने अपने शतपथ में **"अग्नि हि ब्रह्म"**[1] कह कर स्पष्ट कर दिया कि आत्मा के कल्याण का कर्त्ता अग्नि ज्ञान है। पर निरा ज्ञान किस काम का जब तक उस ज्ञान के अनुसार काम करने का उत्साह न हो। सूखा ज्ञानी कभी आत्मा के हित का साधन नहीं कर सकता।

यह देखो ! यह एक ज्ञानी पुरुष है। इसकी बुद्धि विपुल ज्ञान की धारक है। सूक्ष्म तत्त्वों का अन्वेषण इसकी बुद्धि करती है। यह देखो इसने अपनी बुद्धि से भूतविज्ञान को सिद्ध कर एक दिव्यास्त्र का निर्माण कर लिया है। लोग इसकी बुद्धि के आगे नतमस्तक हैं। देशवासियों ने कहा हे विज्ञानी पुरुष ! हम आपकी वन्दना करते हैं। आप इस दिव्यास्त्र का विज्ञान विदेशी दस्युओं से रक्षा करने वाली राष्ट्र सेना को प्रदान करो। इधर दस्युओं को इस शक्तिशाली दिव्यास्त्र का सुराग मिला तो वे भी विज्ञानी पुरुष की सेवा में उपस्थित हुये। दस्यु बोले—हे विज्ञानी पुरुष ! हम तुम्हें विपुल धनराशि भेंट देंगे। तुम हमें यह दिव्यास्त्र प्रदान करो। सौम्यगुण से हीन विज्ञानी धन के बदले में दिव्यास्त्र को निर्दयी दस्युओं को बेचने के लिये उद्यत हो गया। देशवासी दीनभाव से बोले—हे विज्ञानी पुरुष ! ये नीच दस्यु इस दिव्यास्त्र के बल से देशवासियों का उत्पीडन करेंगे।

---

१. मा. श. २-६-४-५

पर सूखे विज्ञानी मानो एक आँख से धन लाभ को ही निहार रहे थे। उसकी दूसरी आँख तो फूटी थी। अतः अपने देश भाईयों पर दया का भाव उसकी आत्मा में नहीं फूटा। लोग बोले ऐसे विज्ञानी से क्या लाभ ? ऐसे लोगों को आचार्य जन विद्यादान करके अनर्थ के बीज ही बोते हैं। सच है मानव दयार्द्रभाव के विना सर्वथा अधूरा ही नहीं अपितु महाविनाश-कारी है।

ज्ञानचक्षु से विहीन कोरे दयार्द्र श्रद्धालु लोग भी अधूरे हैं। ये देखो शत्रु आक्रमण के लिये उद्यत खड़ा है, पर ये श्रद्धावन्त जन मन्दिर में घन्टी बजा रहे हैं। शत्रु ने उचित अवसर देखा और पलभर में ही सब को मौत के घाट उतार कर उनकी देवप्रतिमाओं को भी धूल में मिला दिया। यही कारण है महर्षि याज्ञवल्क्य ने अग्नि तथा सोम इन दोनों को आवश्यक बताया है। इतना ही नहीं ऋषि ने अग्नि और सोम को यज्ञ पुरुष की आँख बताया है। इन अग्नि और सोम के बिना व्यक्ति अन्धा है। यदि इनमें से एक भी नहीं है तब भी आदमी पूर्ण नहीं एकाक्ष (काणा) है। जैसे दिन और रात दोनों पूर्ण दिन बनते हैं, जैसे शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष इन दोनों से मास पूर्णता को प्राप्त करता है, जैसे उत्तरायण और दक्षिणायन दोनों मिलकर संवत्सर को पूर्ण बनाते हैं, ठीक उसी प्रकार अग्नि और सोम जीवन को पूर्ण सफल करने वाले तत्त्व हैं। विवेक के साथ श्रद्धा भी अनिवार्य है। जोश के साथ होश भी आवश्यक है। इन दोनों के विना सफल जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिये ऋषि ने ठीक कहा है—

द्वयं वा इदं तृतीयमास्ति आर्द्र चैव शुष्कं च।

दो ही जीवन के आवश्यक तत्त्व है तीसरा नहीं—आर्द्र और सूखा। अग्नि ही शुष्क और सोम ही आर्द्र है। ऋषि ही नहीं स्वयं वेद भगवान् कहते हैं—

अग्नीषोभ्यां त्वा जुष्टं नियुनज्मि ।[1]

हे पुरुष अग्नि और सोम इन तत्त्वों से युक्त होने पर ही मैं तुझे कल्याण में नियोजित करता हूँ ।

११. सबसे श्रेष्ठतम कर्म क्या है ?

हमने एक ऐसा श्रेष्ठी देखा जो प्रतिदिन कई सेर अनाज कबूतरों को डाल देता है । हमने एक दिन सेठजी से पूछ लिया कि आप इतना अनाज कबूतरों को क्यों डालते हो ? सेठ न झटिति उत्तर दिया—यह पुण्य का कार्य है । ये पक्षी विना झोली के याचक हैं । एक दूसरे व्यक्ति को देखा तो वह चींटियों को आटा डाल रहा था । हमने पूछा—भद्र तुम यह क्या कर रहे हो ? लोग तो अन्नभक्षी जीवों को जहरीली दवाईयाँ डालकर मारते हैं, तो आप स्वयं इन्हीं को अन्न खिला रहे हो । भक्त बोला—भाई ! ये क्षुद्र प्राणी भी प्रभु की प्रजा हैं । इनमें भी हमारी जैसी आत्मा है । इनको भी भूख सताती है । इनका दुःख दूर करना धर्म का कार्य है । इतना ही नहीं हमने चूहे, कुत्ते, बन्दरों तक को मिष्टान्न जिमाते भी लोगों को देखा । स्वयं तत्त्व-द्रष्टा ऋषियों ने भी कागादि प्राणियों को बलि देने का विधान किया है । हमारी समझ में नहीं आया कि सर्वश्रेष्ठ क्या है ? भूखे को रोटी देना सबसे श्रेष्ठ है अथवा नङ्गे को कपड़े देना । प्यासों के लिये प्याऊ लगाना ज्यादा अच्छा है कि गर्मी से बचाने के लिये रास्ते में पेड़ लगाना अधिक उत्तम है । जब हमारी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई तो किसी ने बताया—भाई! मनुष्य तत्त्वदर्शी नहीं हो सकता । उसका ज्ञान अति थोड़ा है । वह अपनी

---

१. यजुर्वेद ६-९

बुद्धि से धर्म के सूक्ष्मतत्त्व को नहीं समझ सकता। इसलिये कोई किसी को श्रेष्ठ मानता है तो कोई किसी को। यदि मनुष्य यथार्थ ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ होता तो फिर संसार में कुछ भी झगड़ा न रहता। पर यहाँ तो एक प्राणी की रक्षा में पुण्य समझता है तो दूसरा उसे मार खाना ही उचित मानता है। इतना ही नहीं, बहुत से मनुष्य तो अपने इष्ट देव की पूजा ही प्राणिवध से करते हैं। यह सब सुनकर हम संशय सागर में डूब गये। हमने सोचा सर्वश्रेष्ठ कर्म क्या है? इसका निर्णय कदापि नहीं हो सकता। बुद्धिमान् व्यक्ति बोला—घबराओ नहीं। वेदज्ञ ऋषि यथार्थ दर्शी होते हैं। वे कल्याणकारी श्रेष्ठतम कर्म का बोध करा सकते हैं। हमने कहा—भद्र! आज तो कोई वेद का ज्ञाता ऋषि हमें दिखाई नहीं देता। हम किससे श्रेष्ठतम कर्म का ज्ञान प्राप्त करें। भद्र व्यक्ति ने कहा—ठीक है, आज कोई ऋषि नहीं पर आज भी वेद तथा ऋषिओं के वेदव्याख्यान ग्रन्थ विद्यमान हैं। वे आज भी जीवन के श्रेष्ठतम कर्म का बोध करा सकते हैं। हम बोले—वेद शास्त्र को हम नहीं समझ सकते। आप ही हमें वेदशास्त्र में कहे सर्वश्रेष्ठ कर्म का ज्ञान कराओ। भद्र व्यक्ति बोला—देखो, कर्मों का विधान भगवान् ने यजुर्वेद में किया है। प्रभु ने प्रथम मन्त्र में ही कहा है—

श्रेष्ठतमाय कर्मणे

अर्थात् प्रभु कहते हैं—हे मनुष्य! मैं तुझे श्रेष्ठतम कर्म के लिये नियोजित करता हूँ। हमने कहा—भगवन्! यही तो मेरी शङ्का है कि वह श्रेष्ठतम कर्म क्या है? जिससे जीवन सफल हो।

भद्र व्यक्ति ने उत्तर दिया—देखो वेदवेत्ता महर्षि याज्ञवल्क्य अपने यजुर्वेद के व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण में वेदवचन की व्याख्या करते हुये कहते हैं—

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म[1]

अर्थात् यज्ञ ही जीवन का सबसे श्रेष्ठ कर्म है। भूखे को रोटी देना अच्छा कार्य है। चिड़ियों, कबूतरों को दाने देना भी भला कार्य है। शीत से पीडित लोगों को कम्बल देना भी पुण्य कर्म है। पर याद रखो वेदज्ञ ऋषि का वक्तव्य है कि श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ है।

हमने पूछा—हे विज्ञानी पुरुष। जीवन का श्रेष्ठतम कर्म यह यज्ञ क्या है? विद्वान् बोले—सुनो! यज्ञ नाम सामुदायिक योगक्षेम के निमित्त एक सङ्गठन में बन्धकर उसके लिये कर्म करने का है। जो लोग इस यज्ञ कर्म की उपेक्षा करके अन्य श्रेष्ठ कार्यों को पुण्य के लाभ के लिये करते हैं, वे कभी कृतकारी नहीं हो सकते। ऐसे जनों के लिये एक दिन ऐसा आयेगा कि वे इन पुण्य कार्यों के करने योग्य भी नहीं रहेंगे।

हमारी समझ में इस सर्वश्रेष्ठ कर्म यज्ञ का रहस्य नहीं आया। हमने पुनः पूछा—भगवन् यज्ञ ऐसी क्या चीज है? जिसके बिना सब पुण्य कर्मों का लोप हो जाता है। विद्वान् बोले—भद्र! देखो—आर्यावर्त्त एक देश है। इसका सङ्गठन है। हमने यदि अपने देशहित को तिलाञ्जलि दे अन्य शुभ कर्म किये तो एक दिन निश्चितरूपेण ऐसा आयेगा जब पूरा आर्यावर्त्त विदेशी दस्युओं के अधीन हो जायेगा। वे दस्यु आर्यावर्त्त के समस्त धन पर अधिकार कर लेंगे। तब विचार करो क्या उस गुलामी में आप कोई शुभ कार्य करने के योग्य रहोगे। इसलिये वेद भगवान् ने सबसे प्रथम श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ का, सामुदायिक योगक्षेम का निर्देश दिया। यह साङ्गठनिक हितसाधक कर्म ही यज्ञ है। ये देखो, वेद कहता है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।[2]

अर्थात् यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ प्रथम करणीय धर्म है।

---

१. मा. श. १-७-१-५   २. यजुर्वेद ३१-१६

१२. महान् पुरुषों की विजय का रहस्य

एक दिन शिष्यों ने महर्षि याज्ञवल्क्य से विनीतभाव से पूछा—हे आचार्यपाद ! लोक में देखा जाता है कुछ लोग थोड़ी सी विघ्नबाधा के आते ही घबरा जाते हैं और अपने उद्देश्य से मुंह मोड़ लेते हैं। ऐसे जन जीवन में कभी विजयश्री का मुख नहीं देख पाते। इसके विपरीत कुछ लोग इनसे सर्वथा भिन्न हैं। इनके मार्ग में बड़ी बड़ी विघ्न चट्टानें बाधा बन कर खड़ी नहीं रह पातीं। इनके मुंह मोड़ने की बात छोड़ो वे तो हंसते-हंसते दुर्गम चट्टानों को लांघ कर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते ही जाते हैं। हे आचार्यपाद ! हम देवकी पुत्र कृष्ण को देखते हैं। इनका जन्म हुआ तो माता-पिता क्रूर कंस की जेल में बन्ध थे। बाल्यकाल गोपों (ग्वालों) में बीता। अत्याचरी बलवान् कंस ने इनके जीवन को मिटाना चाहा पर देवकी पुत्र कृष्ण के मार्ग को कोई नहीं रोक सका। वे आगे ही बढ़ते गये। एक दिन आया उसने विजयश्री का रमणीय मुख देखा। कंस को मृत्यु के घाट उतार अपने माता-पिता का उद्धार किया। चाहते तो राजा बन सकते थे। पर आत्मकल्याण के कामी कृष्ण ने कहा—मेरे गोप बन्धुओं मैं राजपद का कामी नहीं। मैंने अभी आचार्य चरणों में बैठ विद्या लाभ नहीं किया। बिना वेदविद्या की प्राप्ति के अपना तथा दूसरों का कल्याण सम्भव नहीं। सब के देखते-देखते कृष्ण ने आचार्य सन्दीपन के विद्या कुल का मार्ग पकड़ा। आचार्यपाद सन्दीपन के विद्या कुल का नियम अति कठोर था। सब के लिये समान रूप से घोर तप का अनुष्ठान अनिवार्य था। उनके कुल में कोई राजपुत्र बन कर रह सकता था न ही श्रेष्ठी पुत्र। सबको समान वस्त्र एवं भोजन आदन ग्रहण करने का नियम था। गोप कुलों में मन भर घी, दूध, मक्खन खाने वाले कृष्ण को ये कठिन नियम अपने लक्ष्य से विचलित नहीं कर सके। शक्तिशाली राजा कंस को पराजय की धूल चटाने वाले कृष्ण ने अकिञ्चन ब्राह्मण कुमारों के साथ सूखे चने खाकर

भी कभी विचलता नहीं दिखाई। आचार्य चरणों में बैठ कर उन्होंने सम्पूर्ण विद्याओं को प्राप्त किया। कंसविजयी होने के अहङ्कार ने कभी उनके विद्याध्ययन में रोड़ा नहीं अटकाया। परिणाम अति अद्भुत प्रकट हुआ। इनकी विद्या विनयशीलता की यश:पताका सर्वत्र दिखाई देने लगी। हे आचार्यवर! हम सबने राजसूय के अवसर पर देखा कि भीष्म द्रोण सदृश चिरायु विद्यावन्तों के सम्मुख ही सबसे प्रथम अर्घदान का अधिकारी देवकी पुत्र कृष्ण को ऋषि मण्डल ने घोषित किया। इतना ही नहीं स्वयं पितामह भीष्म ने कृष्ण की सर्वश्रेष्ठता का उद्घोष सभा के बीच में किया। हे आचार्यपाद! हम देखते हैं सम्मान पाकर, राज वैभव का लाभ करके व्यक्ति अहङ्कार से ग्रस्त होकर अधोगति को प्राप्त कर लेता है। पर कृष्ण के जीवन में यह सब कुछ नहीं। वे महान् होकर भी विनीत हैं। वे आत्म-कल्याण के पथ से मनागपि (थोड़ा भी) डिगमगाते नहीं दीखते। हे तत्त्वज्ञ आचार्य! आज हम इस महोदय का रहस्य सुनना चाहते हैं।

आचार्यपाद महर्षि याज्ञवल्क्य बोले—हे शिष्यगण सुनो, वेदों का विज्ञान इस विषय में इस प्रकार प्रकट हुआ है—

यद्धि देवा हविर्जुषन्ते तेनहि महज्जयति।[1]

जो लोग अपने दिव्यगुण रूप देव शक्तियों को रोज हवि देकर तृप्त करते हैं, वे जन सदा विजयपथ पर आगे ही आगे बढ़ते हैं। काम क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष और अहङ्कार उनके विजयरथ के चक्र को रोड़ा बनकर रोक नहीं सकते। बाधा उनके आगे अपना सिर झुका देती है। एक शिष्य ने विनयपूर्वक पूछा—हे आचार्यपाद! हम तो दोनों समय देवों को हवि देते हैं। उन्हें उत्तम पदार्थों से तृप्त करते हैं। पर हमें आज तक सफलता श्री का दर्शन नहीं हुआ। हम आज आगे बढ़ने का निश्चय करते हैं तो वह कल ही टूट जाता है। आचार्य बोले—शिष्यगण! तुम केवल भूत जड़ देवों को हवि प्रदान करते हो। आत्मा में ज्ञान हवि

१. मा. श. १-७-३-१५

देने वाले मन्त्रों का चिन्तन नहीं करते। जिन्होंने ज्ञान हवि अपने आत्मस्थ देवों को अर्पित की है, जिन्होंने नित ज्ञान हवियों से तृप्त कर अपनी दिव्य गुण शक्तियों को सबल बना लिया है। सुनो—शिष्यगण! उनके निश्चय सदा अटल रहते हैं। काम, क्रोध आदि आन्तरिक शत्रु शनैः शनैः मिट जाते हैं। बाहर के प्रबल विघ्न शत्रु भी उनके राह के रोड़े नहीं बन पाते। ऋषि महर्षि और राम, कृष्ण आदि महान् पुरुष इन्हीं पुष्ट देव शक्तियों के बल पर पर ही आगे बढ़े हैं। जो लोग देवयजन करते हुए भी, सन्ध्या वन्दन और उपासना के काल में भी जगत् चिन्तन करते हैं तो भला उनका देवयजन कहाँ हुआ। हवि लाभ के अभाव में देव शक्तियाँ दुर्बल हो जाती हैं। फिर आसुर शक्तियाँ घेर लेती हैं। तब आगे बढने की और विजय की आशा कहाँ। विजय श्री का मुख देखना चाहते हो तो अपने आत्मस्थ देवों को तृप्त करो, बलवान् करो। यही विजय का रहस्य है।

१३. देवों के वाहक पशु कौन ?

लोग देवयोनि को मनुष्य योनि से भिन्न मानते हैं। ऋषियों के वेदव्याख्यान ग्रन्थ पढ़ने से भी यही ज्ञात होता है कि मनुष्य योनि अन्य है और देवयोनि अन्य है।[1] महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने शतपथ में एक जगह स्पष्ट कहा है कि देव और मनुष्यों की उत्पत्ति में आकाश पाताल का भेद है। ऋषि का कथन है—मनुष्य नीचे से उत्पन्न होते हैं इसके विपरीत देव ऊपर से उत्पन्न होते हैं।[2] मनुष्य की उत्पत्ति राक्षसी कामभाव से है तो देवों की उत्पत्ति द्युलोक के शुभ्र प्रकाश

१. देवयोनिरन्यः मनुष्ययोनिरन्यः। —मा. श. ७-४-२-४०

२. द्र. मा. श. प्राचीन प्रजनना वै देवाः प्रतीचीन प्रजनना मनुष्याः।
—मा. ७-४-२-४०

से ऋषि ने बताई है ।[1] यही कारण है कि जिस व्यक्ति की उत्पत्ति केवल मानुषी है द्युलोक का प्रकाश जिसे प्राप्त नहीं होता, वह मात्र इन्द्रिय भोगों की प्राप्ति में यत्नशील देखा जाता है। मनुष्य का भोजन घी, दूध, अन्नादि है तो देवजन इस भौतिक पदार्थों के सेवनकर्त्ता नहीं। जब यह शास्त्रवर्णित बात हमने लोगों के सामने कही तो वे बोले—हमारी समझ में कुछ नहीं आया। लोग बोले—भद्र ! कुछ लोग देवों को इस धरती से परे कहीं स्वर्ग लोक का वासी मानते हैं। इस युग में लोग कहते हैं एक ही वेदशास्त्रों के जानने वाले ऋषि हुये हैं, जिनका नाम महर्षि दयानन्द है। हमने सुना है उन्होंने देवों को लोक लोकान्तर का वासी नहीं बताया। अपितु उनका उपदेश है देव मनुष्यों से भिन्न नहीं । जो मनुष्य विद्यादि शुभ गुणों से युक्त है वही व्यक्ति देव कहाता है अतः आपकी यह बात हमारी समझ में नहीं आती कि देव योनि अन्य है तथा मनुष्य योनि अन्य है।

हमने कहा—भाईयो ! तुम ठीक कहते हो। सारे ऋषियों का मन्तव्य एक ही है कि देव कोई लोकान्तर वासी नहीं। देव और मनुष्य एक ही शरीर के धारी हैं। मानवी शक्तियां और देव शक्तियाँ एक ही मानवदेह के मस्तिष्क में रहने वाली शक्तियाँ हैं। देखो—खाना, पीना, वस्त्र पहनना, रूप देखना आदि शारीरिक भोग में प्रवृत्त करने वाली मानसी शक्ति मानवी है तथा इसके विपरीत परहित साधनरूप यज्ञ कर्म की प्रेरणा देने वाली बुद्धि देवबुद्धि है। इन्द्रिय सम्बन्धी भोगों के प्रति प्रवृत्ति स्वाभाविक है। यह माता-पिता के संयोग के साथ स्वयं प्रवृत्त हो जाती है। इस स्वाभाविक भोग को प्राप्त कराने वाले पशु एक तो हमारी इन्द्रियाँ हैं तथा बाह्यजगत् में भोग के सब साधन भी पशु कहलाते हैं।

लोग बोले—भद्र ! आपकी बात हमारी समझ में आ गई—सांसारिक

---

१. तद् देवानां देवत्वं यद् दिवमभिपद्यासृज्यन्त। मा. श. ११-१-६-७

सुखभोग प्राप्त करना मनुष्य कर्म है। इस भोग को प्राप्त कराने वाले सांसारिक पदार्थ मनुष्यों के पशु हैं। पर देवों का स्वरूप क्या है? तथा उनके भोज्य पदार्थ क्या हैं?

हमने कहा सुनो—ऋषियों ने देवों का स्वरूप ज्ञानप्रकाशात्मक बताया है, दैवी प्रजाओं की उत्पत्ति का रहस्य प्रकट करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है—दैवी प्रजा की उत्पत्ति माता-पिता के मेल से नहीं अपितु शिष्य और आचार्य के योग से होती है।[1] महर्षि ने यह भी बता दिया कि आचार्य भी वैदिक ज्ञान से ही देव शक्तियों को शिष्य के मस्तिष्क में उत्पन्न करता है। इन देव शक्तियों को भी भोजन की आवश्यकता है। जो लोग इन देवों को भोजन नहीं देते उनकी देवशक्ति क्षीण हो जाती है। जैसे शरीर के लिए भोजन आवश्यक है वैसे ही देवों को नित भोजन की अपेक्षा है। देवों को भोजन सामग्री पहुँचाने वाले पशु भी मनुष्यों के पशुओं से भिन्न हैं। लोग बोले—भद्र! देवों के आहार प्रापक पशु क्या है? हमने कहा सुनो—महर्षि याज्ञवल्क्य बताते हैं—

पशवो वै देवानां छन्दांसि। तद्यथेदं पशवो युक्ता मनुष्येभ्यो वहन्त्येवं छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति।[2]

अर्थात् वेद के पवित्र ज्ञानधारक मन्त्र ही देवों के पशु हैं। जैसे लौकिक पशु मनुष्यों के लिये नानाविध पदार्थ प्राप्त कराते हैं ठीक वैसे ही मन्त्र मन बुद्धि से युक्त होकर देवों के लिये यज्ञ भावक ज्ञान रूपी भोजन प्राप्त कराते हैं। इस पवित्र ज्ञान का आहार करके देव शक्तिसम्पन्न हो मनुष्य को स्वर्गसुख प्रापक यज्ञ कर्म में प्रेरित करते हैं। मानुष भोग दुःखपरिणामी है। दैव कर्म सदा अमृत परिपाक वाला है।

भाईयो! पर दुःख की बात है आज मानव शारीरिक भोग सामग्री के जुटाने में ही अपने कर्तव्य को पूर्ण मान बैठा है। उसका समग्र उद्योग

१. तानि मुखतो जनयते मा. श. ११-५-४-१७
२. मा. श. १-८-२-८

मात्र मानुष सुख लाभ के लिए चरितार्थ होता है। सर्वहित साधक यज्ञ कर्म के प्रवर्तक देव आज निज आहार के विना क्षीण है। विद्या स्थानों में मन्त्र के ज्ञान का सर्वथा अभाव है। मानुषी बुद्धि के शक्तिशाली हो जाने से चारों ओर स्वार्थ सिद्धि के आसुर भाव छाये हैं। यही कारण है अपने मानवीय भोग के लिए मनुष्य परपीडन के नीच कर्म से सङ्कोच नहीं करता। फलस्वरूप धन्य-धान्य की प्रचुरता होने पर भी मनुष्य क्लेश पीडित है। धरती पर स्वर्ग लाना है तो आओ देवों के यज्ञ प्रापक छन्दों के ज्ञान का संग्रह करें। छन्द ही मनुष्य को देव बनाने वाले हैं।

इत्योम्

१४. किसका अग्नि नहीं बुझता

(संकल्प)

सामान्य लोग तो अग्नि का अर्थ आग ही जानते हैं, परन्तु अग्नि का असली अर्थ तो आगे ले जाने वाला होता है।[1] सचमुच यह भौतिक अग्नि भी आगे ले जाने वाला है, रेल, मोटर, विमान आदि सब इस अग्नि की ही शक्ति से गतिमान् हैं। सच तो यह है आगे बढ़ाने का काम है ही अग्नि का, अग्नि के बिना गति सम्भव नहीं यह वैज्ञानिक तथ्य है। जहाँ अग्नि बुझा गति समाप्त, पतन प्रारम्भ। विमान में यदि पैट्रोल खत्म हो जाये तो क्या वह उड़ सकेगा? कदापि नही, नीचे आ पड़ेगा, सब चकनाचूर हो जायेगा। यह तो हुई यान-विमानों की बात। हमारे इस जीवन यान को चलाने वाला भी अग्नि है। वह अग्नि क्या है? पूछने पर मनीषियों ने बताया कि इस जीवन यान को गति देने वाला आगे बढ़ाने

---

१. अग्निरग्रणी भवति (निरु.)

वाला "संकल्पाग्नि" है यह अग्नि सब कामनाओं की पूर्ति का मूल है।[1] जिसके ज़ीवन में यह संकल्प रूपी अग्नि दधक रहा है उसकी गति को संसार के वड़े से बड़े विघ्न नहीं रोक सकते। यह बढ़ता चला जाता है। सर्दी-गर्मी भूख प्यास आदि द्वन्द्व उसको प्रतीत तक नहीं होते। संकल्पधारी महापुरुषों को देखो, किस तरह बढ़ते चले गये, कोई बाधा उन्हें रोक न सकी।

कौन है जो आगे बढ़ना नहीं चाहता? सफलता पाना नहीं चाहता? ओ आगे बढ़ने के अभिलाषी जन! अग्नि का आधान (स्थापन) कर, कहाँ? हृदय-कुण्ड में और लगा दे उसको आगे बढ़ने में, याद रखना चारों तरफ आगे बढ़ने की विचारणा एक साथ मत करना, एक दिशा निश्चित कर उसकी तरफ चल ही नहीं, दौड़ पड़, परन्तु क्षुद्र लक्ष्य मत बना लेना, नहीं तो वहाँ तक पहुँच कर फिर कहाँ जायेगा—इसलिए महान् उद्देश्य को लेकर चल! वह कौन-सा महान् उद्देश्य है जिसकी प्राप्ति में जीवन की सर्वतो महान् सफलता है, वह है? "सर्वभूत हित साधन रूप यज्ञ कर्म" इसकी एक-एक सफलता में शान्ति कण टपकते हुए मिलेंगे।

परन्तु याद रखो—इस संकल्पाग्नि के लिए पैट्रोल की आवश्यकता है, इसे इन्धन नहीं मिला तो यह बुझ जायेगा, फिर लाख कोशिश करने पर भी तुम एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकोगे। तो इस संकल्पाग्नि को बढ़ाने वाला, प्रदीप्त करने वाला पदार्थ क्या है? सुनिए महर्षि याज्ञ-वल्क्य कहते हैं—

"स यः सत्यं वदति यथा अग्निं समिद्धं घृतेन अभिषिञ्चेत् एवं हैनं स उद्दीपयति तस्य भूयो भूयस्तेजो भवति श्वः श्वाः श्रेयान्॥"[2]

---

१. संकल्प प्रभवाः कामाः (मनुस्मृति)

२. मा. श. २-२-२-१९

वह जो सत्य बोलता है मानो प्रदीप्त अग्नि को घृत से सींचने में लगा हुआ है। इस प्रकार वह अपनी उस अग्नि को बढ़ा लेता है, प्रदीप्त कर लेता है। उसका तेज अधिक-अधिक होता जाता है, दिन-प्रतिदिन कल्याण ही कल्याण का लाभ करता है।

संभवतः आप समझ गये होंगे संकल्पाग्नि का इन्धन क्या है? महा-पुरुषों ने इसी का सेचन अपनी अग्नि में किया, उनका तेज इतना बढ़ा, लोग उनके सामने बोलने से कतराते थे, उनके मुख की तरफ देखते थे आदेश सुनने के लिये, आदेश हुआ नहीं, पूरा करने में जुट जाते थे, अच्छे-बुरे का भी विचार नहीं उठता, क्यों? क्योंकि वे जानते हैं इनके जीवन में पवित्र लोक कल्याण के संकल्प की अग्नि जल रही है, सत्य की आहुतियाँ पड़ रही हैं, तो इनसे भूल कैसी?

राम, कृष्ण, बुद्ध, दयानन्द, गांधी और विवेकानन्द के जीवन में इसी अग्नि और सत्य का समन्वय था। इसीलिए सहस्रों लोग उनके वचनों पर प्राण देने को तैयार हो जाते थे। आओ हम भी इस पवित्र अग्नि को हृदय में धारण करके सत्यरूपी घृत की आहुति देना प्रारम्भ करें और अपने जीवन में कल्याण के, श्रेय के दर्शन का पुण्य प्राप्त करें!!

१५. स्वर्ग में पहुँचाने वाली नौका

यह एक बड़ा भयंकर नद है। इसकी धारा तीव्रवेगवती हैं, इसके तल में पर्वतों से तोड़कर लाये हुए पत्थर घिस-घिस कर चिकने हो गये हैं, हमने एक बार सोचा इसे पार कर जायेंगे पर ज्यों ही पैर रक्खा, हम फिसले, घबराकर वापस आ गये सोचा महानन्द दुस्तर है बीच में पानी उछल रहा है तैर कर पार करना असम्भव है। नौका चाहिये पर यह साधारण लकड़ी की डोंगी (छोटी नौका) इसे क्या पार करायेगी, बीच में ही डुबो देगी। इसको पार करना है पार के चारू फल खाने हैं तो इसके लिये विशेष नौका

चाहिये। यह तो पर्वतीय महानद की बात हुई, हमने सोचा नीचे चलो मैदान में इसका वेग शायद कुछ कम हो गया होगा, नीचे मैदान में आये तो यहाँ भी घबरा गये, देखा अब यह मीलों तक फैल गया। जरूर अब इसका वेग कम है। महानद का यौवन तो जरूर समाप्त हो गया पर इस अगाध जल में पता नहीं क्या-क्या जन्तु पड़े हों "अज्ञाते जले न प्रविशेत्" (अज्ञात पानी में प्रवेश न करे) इस मनु के वचन का स्मरण कर हम रुक गये सोचा इसे भी बिना नौका के पार नहीं किया जा सकता।

यह हुई महानद की बात। इधर संसार नद है। नद नहीं लोग इसे संसार सागर तक कहते हैं। इससे पार होना कठिन काम है। इसके काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि अन्तरग्राहों से कैसे त्राण हो, असुर राक्षस रूपी विलोडित कर देने वाली लहरों से कैसे बचा जाये, इसके पार जाने के लिए विशेष नौका की आवश्यकता है। कैसी हो सकती है वह नौका कुछ समझ नहीं आता, हमने जो भी नौका बनाई वह अपने आप तो डूबी हमें भी डुबा दिया दिन-रात एक करके तो बाँध फैक्टरी रूपी नौका बनाई, पर जब वह भी पार कराने में असफल रही तो हम और भी अशान्त हो उठे, घबरा गये। क्या करें कुछ समझ नहीं आ रहा था, तो किसी ने बताया—कुछ लोग इस संसार सागर, इस विकराल दुःख सागर को पार कर चुके हैं।

हम उसके पास दौड़ पड़े, उनके चरणों में सिर टिका दिया। वे बोले—क्या बात है? इतने दुःखी क्यों हो ? तो हमने कहा—हमारा सब कुछ बेकार हो गया, इस संसार सागर को पार करने के लिए हमने बड़ी मेहनत की, बड़ी-बड़ी नौकाएँ बनाई पर बेकार सिद्ध हुई। हमने सुना तुम देव हो, तुमने संसार सागर को पार कर लिया है तो हमें भी बताओ तुम्हारी नौका कैसी है ? देव बोले—हमारे गुरु तो बृहस्पति है। वे ही हमें नौका बनाने का ज्ञान प्रदान करते हैं, उनके चरणों में जाओ। व्यथित मानव बोला—मुझे जल्दी उस महापुरुषों के चरणों में ले चलो। देव बोले—चलो हमारे गुरु

सबको ज्ञान देते हैं भेद-भाव नहीं रखते। बृहस्पति के पास पहुंचे। संसार सागर में गोता खाने वाला हाथ जोड़कर बोला—हे देव गुरु! मुझे बचाओ मुझे इस दारुण दुःख सागर से पार उतारो, मेरी आत्मा जल रही है तड़प रही है, कल्याण करो। मुझे बताओ वह कौन सी नौका है जिससे देव पार हो गये। बृहस्पति बोले—धैर्य से सुनो हमारी नौका क्या है। धनी होते हुये भी सुख-शान्ति रूपी धन से हीन दरिद्र मानव बोला—मैं अनुगृहीत हूँ, जानने के लिए कहिये देव गुरु! बृहस्पति ने कहा—

"नौर्हवा एषा स्वर्ग्या यदग्निहोत्रम्"[1]

संसार सागर से पार उतार कर स्वर्ग में सुख-शान्ति युक्त लोक में पहुंचाने वाली हमारी नौका अग्निहोत्र—यज्ञ ही है। मानव बोला—महर्षि! यज्ञ क्या है? ऋषि बोले—देवों के संगठन में समर्पित होकर कर्म करना ही यज्ञ है। जो लोग अपनी आत्मा की आहुति (समर्पण) इस देव यज्ञ (सत्य-वादियों के संगठन) में डाल देते हैं, वे संसार के दुःखों से पार हो जाते हैं। देव लोग प्रतिदिन प्रातः शीतल जल का आचमन कर बोलते हैं:—"अयन्त इध्मात्मा जातवेद" हे देवों के संकल्प रूप अग्ने। मेरी यह आत्मा तेरे लिए इंधन हैं, मैंने अपने आपको तेरे लिए समर्पित कर दिया।

हे मानव! जो इस प्रकार अपने आपको समर्पित कर देता है वह दुःख सागर से पार हो जाता है। इसलिये हम कहते हैं—**"यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनम्"**[2] जो लोग यज्ञ के, पवित्र संगठन के कर्मों के लिए अपने आपको समर्पित नहीं करते वे बन्धन में पड़ जाते हैं। व्यथित मानव बोला— मैं भी समर्पण करता हूं। बृहस्पति बोले—कैसी अनुभूति है? मानव बोला—अब मेरा मन शान्त है। बृहस्पति बोले—बस तुम भी अब देवों में से एक हो!

---

१. मा. श. १-३-३-१५
२. गीता

१६. "देव सोते नहीं"

"सोया सो मरा" यह लोकोक्ति पूर्णयता ठीक है। चोर-लुटेरे भी देखते रहते हैं घर का मालिक कब सोये और हम अपना प्रयोजन सिद्ध करें। सचमुच सोया हुआ व्यक्ति आँख होते हुए भी अन्धा हो जाता है, कान होते हुये भी पाषाण के समान बहरा हो जाता है, क्या करें निद्रा का तम ही कुछ ऐसा छा जाता है कि बुद्धि भी काम नहीं करती। उठने पर देखता है चोर सब कुछ समेट ले गये अब पछताता है रोता है परन्तु अब पछताये क्या होता है जब चिड़िया चुग गई खेत। सोचता है अब जागरूक रहूँगा, सोऊँगा नहीं, पर क्या निद्रा से बच पाता है? कहते हैं—अर्जुन गुडाकेश (निद्रा को जीतने वाला) था पर इस शास्त्रोक्ति पर भी सहसा विश्वास नहीं जमता, क्योंकि लोक में सब इस निद्रा देवी के वशीभूत दिखाई देते हैं।

इधर एक मूर्ख को देखिये—यह जंगल में भटक रहा है रात होने लगी है, निद्रा देवी दबाने लगी, सोचता है—कहाँ सोऊँ, यहाँ तो जंगली जानवर विचर रहे हैं। विचार करता है इस वृक्ष पर चढ़ जाऊं इसके ऊपर बैठकर रात बिता लूं। पेड़ पर चढ़ गया, जंगली जानवर चिल्लाने लगे तो यह और भी ऊपर चढा धीरे-धीरे शिखर पर पहुंच गया, जागरूक था सचेत था कि नींद न आ जाये और नीचे न गिर पड़ूं पर निद्रा का तम भी महान् है, जब वह सारे आकाश मण्डल में छाया है तो इसे कैसे छोड़े,? नींद आ गई और यह धड़ाम से नीचे गिर पड़ा, हड्डियाँ टूट गईं सिर फूट गया, प्रातः यात्री आते हैं उसको देखकर उसकी पतन कथा पूछते हैं। सुनकर हैरान हैं विस्मित हैं, मूर्ख की मूर्खता पर हंसते हैं। उधर से ये एक ऋषि आ रहे हैं इनका नाम वाल्मीकि है, ये बड़े विद्वान् हैं। वे भी इस विचित्र घटना को सुनते हैं। सब लोग कह रहे हैं महर्षे! यह कैसा मूढ था, वृक्ष की चोटी पर सोने लगा। महर्षि सोच में पड़ गये, कुछ स्तब्ध से

खड़े रह गये। यात्रियों ने पूछा—हे मुने ! आप कुछ नहीं बोल रहे हैं। ऋषि बोले—तुम इसे देख दुःखी हो रहे हो, संसार को देखो ये सारे ही मनुष्य ऐसे ही गिर कर मर रहे हैं। लोगों ने पूछा—कैसे ? ऋषि बोले—

"धर्ममर्थं परित्यज्य कामं यस्तु निषेवते।
स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतित एव प्रबुद्ध्यते ॥"[१]

जो व्यक्ति धर्म और अर्थ (धर्म पूर्वक धन संग्रह) को छोड़कर सदैव काम वासना की तृप्ति में संलग्न है, हे मनुष्यो ! वह जागता हुआ ही सोता है। वह इसी प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है जैसे यह नींद के वशीभूत होकर गिरा हुआ दुःख भोग रहा है। गिरने के बाद ही आँख खुलती है पहले सोता रहता है यह मानव। ऋषि की इस वार्ता को सुनकर लोग सहम गये आश्चर्य में पड़ गये क्या हम सो रहे हैं, हमारा भी पतन इस प्रकार होगा ? वे विह्वल भाव (दुःख के साथ) पूछने लगे कौन है जो इस संसार में रहता हुआ काम क्रोध रूपी निद्रा के वश में नहीं होता। महर्षि ने कहा:—

"न वै देवा स्वपन्ति"[२]

देव कभी नहीं सोते वे संसार में रहते हुए भी इसमें लिप्त नहीं होते, वे संसार का सब काम करते हैं पर जागते हुए सत्वस्थ रहते हैं क्योंकि उन्होंने जान लिया है **"यो जागार तमृचः कामयन्ते"**—[३] जो जागता है सजग रहता है तामस के वशीभूत नहीं होता ऋचाएँ उसी का हित साधन करती है। इसलिये वे जागते रहते हैं पलक तक नहीं झपकते क्योंकि क्षण भर सोये तो बस शिखर से नीचे पतन है इसलिये

१. रामायण
२. मा. श. ३-२-३-११
३. सामवेद

लोग ठीक कहते हैं—देव निर्निमेष (बिना पलक मारे) रहते हैं, पर रहस्य नहीं समझते। इसलिए देवत्व को प्राप्त नहीं हो सके, जो देवत्व को प्राप्त हुआ तो फिर सोने का क्या काम। इसलिये देव बनना चाहते हो तो जागते रहो। काम-क्रोध-लोभ-मोह रूपी अज्ञान जनित निद्रा को जीत कर गुडाकेश बनो ! !

१७. असली धनवान् कौन ?

यहाँ देखिए—एक अद्भुत दृश्य है—महाराजा रघु की यज्ञशाला में आज पूर्णाहुति हुई है, रघु ने अपने ऐश्वर्य को सहस्रों हाथों से विद्वान् ब्राह्मणों के चरणों में समर्पित करके अनन्त आशीः श्री से अपने को कृत-कृत्य किया है, वे चक्रवर्ती सम्राट् हैं, विश्वजित् याग का अनुष्ठान उन्होंने किया है, उनकी दान-परायणता के यशोगीत धरती के हर खण्ड पर गुञ्जायमान हैं ! अब देखिये उनकी यज्ञशाला की तरफ—महर्षि वरतन्तु के शिष्य कौत्स आ रहे हैं, उनके मुख मण्डल से विद्या का प्रकाश छिटक रहा है, गुरुकुल के स्नातक हैं भौतिक वस्तु केवल शरीर पर वल्कल के वस्त्र, पैरों में लकड़ी के खड़ाऊं, हाथ में तुम्बे का निर्मूल्य पात्र है आयु ४८ वर्ष है पूर्ण विद्या रस के पान से तृप्त हैं, देखिए सम्पूर्ण पृथ्वी का एक-छत्र सम्राट् रघु उन्हें देखते ही अपने आसन से उठकर चल पड़ता है, उनके चरणों में सिर झुका देता है। आज के लोग आश्चर्यचकित हैं, वे सोचते हैं—यह क्या हो रहा है ? इतना बड़ा राजा क्यों इस अकिञ्चन के सामने नतमस्तक है ! अच्छा इधर देखिए—ये गंगा के तट पर कौन बैठे हैं ? ये हैं—"महर्षि दयानन्द" इनके पास न वल्कल वस्त्र ही हैं, न तुम्बे का पात्र, ये पैरों में खड़ाऊं भी नहीं रखते। आपका भौतिक धन मात्र एक कौपीन है,

परन्तु इनका मुख देखिए—प्रातःकालीन कमल की भांति ग्रानन्द से खिला हुआ है, पता नहीं इन्हें कौन-सा ऐश्वर्य मिल गया, अहो ! कितना अद्‌भुत ऐश्वर्य है, कड़ाके की ठण्डी हवा इन्हें दुःखी नहीं करती, ज्येष्ठ मास का प्रतप्त प्रचण्ड वायु भी इनका कुछ नहीं बिगाड़ रहा है।

इन महापुरुषों का विचित्र ऐश्वर्य क्या है, हमें तो इनके पास कुछ दिखाई नहीं देता, पर ऋषियों की सूक्ष्म प्रज्ञा ने इन आँखों से न दीखने वाले महान् ऐश्वर्य का अन्तर्दर्शन किया और वे पुकार उठे—"**ओ संसार के लोगो ! तुम्हारा यह भौतिक ऐश्वर्य तुच्छ है, नाशवान् है, तुम इस ऐश्वर्य को पाकर चोर से डरते हो, राजा से डरते हो, भाई से डरते हो, यहाँ तक कि तुम अपने पुत्र से भी डरते हो।**"

सांसारिकजन कातर भाव से पूछने लगे—फिर असली ऐश्वर्य क्या है? कौन सा वह ऐश्वर्य है जिसे पाकर पुरुष निर्भय हो जाता है। तो, महर्षि बोले सुनो—

"यो ज्ञातो ऽनूचानः स समृद्धः।"[1]

जिसने यथार्थ ज्ञान-रस का पान किया है, जो अनूचान—यथार्थ ज्ञान का प्रवक्ता है वही असली धनवान् है। उसके धन को कोई छीन नहीं सकता, छीनने की तो बात ही क्या, उसे आँखों से देख भी नहीं सकता ! इस ज्ञान-रूपी ऐश्वर्य को पाने के बाद कुछ भी अलभ्य नहीं, तब वह—"**सुखं शेते**" सुख से सोता है। राग द्वेष उसे छूते नहीं, भौतिक सुख-दुःख उसके अन्तर तक पहुंचते नहीं, कितना महान् है वह ऐश्वर्य, यह ऐसा पवित्र ऐश्वर्य है जो अहङ्कार तक की जड़ों को काट देता है। ठीक ही कहा है—"**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**"[2] ज्ञान के समान पवित्र वस्तु इस संसार में नहीं। बस महापुरुष इसी ऐश्वर्य में मस्त हैं।

---

१. मा. श. ३-६-१-२९
२. गीता

भला जब उन्हें जन्म-जमान्तरों तक साथ रहने वाला अद्भुत ऐश्वर्य मिल गया, तो वे प्रमुदित क्यों न हों ?

ओ भौतिक धन के पीछे दौड़ने वाले नर ! जरा थोड़ी देर इन ज्ञानैश्वर्य सम्पन्न महापुरुषों की मुखमुद्रा को तो निहार और किञ्चित् विचार कर, तू किस नाशवान् और भौतिक धन के संग्रह में पापरत है !!

१८. आगे कौन ?

ये देखिए एकलव्य है, इसे कोई योग्य गुरु नहीं मिलता। द्रोण के पास पहुंचा तो वहाँ भी निराशा। किसी ने बताया—स्थिरतापूर्वक अभ्यास करना ही सबसे बड़ा गुरु है। बस वह लग गया, असफल होता है पर लगा है, एक दिन सफलता चरणों को चूमती है और द्रोण का धनुर्विद्या विशारद शिष्य अर्जुन भी एकलव्य की सफलता के आगे नतमस्तक है।

इधर देखिये—यह फकीर और उसकी औरत है, साथ में उसका छोटा बच्चा है। बच्चा अपने माता-पिता के तिरस्कार को देखकर दुःखी है। माँ इस बात को समझ जाती है उसने अपने प्यारे पुत्र को समझाते हुए कहा—"मैं समझती हूं माँगना बुरा काम है, पर मैं औरत हूं, मजबूर हूं, पर तू नर है, नहीं, तू शेर है, तू संकल्प कर पिता के समान भीख नहीं माँगेगा। माँ के वचन आत्मा में बैठ गये। संकल्प की आग उद्दीप्त हो गई और लग जाता है अपने संकल्प की साधना में। सेना में भर्ती होता है। जी-जान से परिश्रम करता है। आगे बढ़ता जाता है। एक दिन सेनापति बन जाता है, सेनापति ही नहीं, अपितु राजा बन जाता है। जानते हो वह कौन था ? वह था टीपू सुलतान का पिता हैदर अली जिससे अंग्रेज काँपते थे, कहां से कहां पहुंच गया। जानते हो आगे बढ़ने का रहस्य क्या है ?" यदि नहीं तो महर्षि याज्ञवल्क्य के शब्दों में सुनो—

"तिष्ठन् वै वीर्यवत्तमो भवति।"[1]

जो अपने संकल्प पर खड़ा है, अविचल है, वह आगे बढ़ जाता है। बड़े-बड़े बुद्धिमान् कि वा बलवान् शक्तिशाली उसे देखते ही रह जाते हैं, और जिसमें धैर्य नहीं अविचलता नहीं थोड़ा सा कष्ट आया और रास्ता बदला, वे बुद्धिमान् होते हुए, साधनयुक्त होते हुए भी पिछड़ जाते हैं, दौड़ में पीछे रह जाते हैं। ऐसे लोगों के दर्शन आप प्रतिदिन करते होंगे, यदि नहीं तो इधर देखिए—यह रमेश है, इसकी बुद्धि कमाल की थी, पढ़ने में प्रथम आता था। लोग समझते थे पता नहीं क्या बनेगा, माता-पिता को बड़ी आशा थी परन्तु आज यह बैंक की डकैती में पकड़ा गया है, लज्जित है, दुःखी है। हमने उससे पूछा—"तेरा क्या हाल है?" तो उसने बताया कि "मैं एक बुद्धिमान् छात्र था, मेरे बराबर स्कूल में कोई नहीं था, पर मेरी चंचलता ने मेरा नाश कर डाला, मैं कभी अभियन्ता (इंजीनियर) बनने का स्वप्न लेता तो कभी डाक्टर और कभी आई. ए. एस. तो कभी मिल्ट्री का कर्नल—परिणाम, मैं कहीं भी सफल नहीं हुआ अन्त में माता-पिता से पैसा लेकर व्यापार प्रारम्भ कर डाला तो उसमें घाटा पड़ गया, बस अब डाका डालने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं बचा।" यह है अस्थिरता का परिणाम। पुराने लोग ठीक कह गये कि एक स्थान पर पड़ा तो—पत्थर भी बढ़ जाता है अर्थात् भारी हो जाता है।

इसलिए यदि दुनिया में अग्रगण्य बनना है, सफलता देवी का साक्षात्कार करना चाहते हो, तो अपने लक्ष्य की पूर्ति में प्राणपण से लगे रहो! मोहम्मद गौरी अनेक बार हार कर भी नहीं हारता, तो तू दो चार बार की असफलता से क्यों घबड़ाता है? याद रख महर्षि याज्ञवल्क्य के शब्दों को—

"तिष्ठन् वै वीर्यवत्तमो भवति"

---

१. मा. श. ३-६-२-१

१९. पराजय किसका ?

यह देखो—रावण घायल होकर पड़ा है, कहते हैं बड़ा विद्वान् था। अग्नि, वायु आदि देवता भी इसके आदेश का पालन करते थे। इसकी लंका के भव्य भवन सुवर्ण पर्वत से प्रतीत होते थे। समुद्र इसके रास्ते को रोक नहीं पाता था क्योंकि पुष्पक विमान इसके पास जो था। पर आज इसकी इतनी दुर्दशा क्यों ? आज ये चमचमाती प्रचण्ड धूप में पड़ा कराह रहा है, कोई साथ देने वाला नहीं, राजभवनों को छोड़ धूल में पड़ा है।

ऐसा ही कुछ दृश्य इधर कुरुक्षेत्र के मैदान में दिखाई दे रहा है। विशाल पृथ्वी पर शासन करने वाला दुर्योधन हस्तिनापुर के वे सुन्दर महल इन्द्रप्रस्थ का मयासुर द्वारा विरचित प्रासाद आज छूट गया, बहुतों ने समझाया था इसे। इसके विनाश की आशंका से भगवान् कृष्ण तक ने दूत बनना स्वीकार किया, पर एक भी न मानी, तिरस्कार तक करने में नहीं हिचका।

इधर देखिये—यह पृथ्वीराज चौहान जंजीरों से बंधा, है कभी शत्रु इससे काँपते थे, देखते ही वीरमानियों के दिल दहल जाते थे, इसकी भी हार हो जायेगी, कोई सोच भी नहीं सकता था, पर आज हारा ही नहीं, शत्रु के बन्धनों में भी बंध गया, जो इससे काँपते थे वे अब इस पर थूकते हैं। कैसा पतन ? कैसी दुर्दशा ? कैसी दारुण पीड़ा ? हृदय काँप उठता है इस वीर की इस दशा को देखकर।

इधर दूसरा ही दृश्य है यह देखो—शिवाजी का राज्याभिषेक हो रहा है, लोग आश्चर्यचकित हैं, शिवा भी राजा बन गया; इसने बडा भारी सेना बल तैयार कर लिया, छोटे से घर में पैदा होकर आज राजा बन बैठा, अब इसने कितने ही दुर्ग जीत लिये। इसकी

श्रीवृद्धि का कारण क्या है, लोग सोचते हैं—कोई गिर रहा है तो कोई चढ़ रहा है। संसार में चारों तरफ यही उत्थान-पतन का विचित्र दृश्य दिखाई दे रहा है। इस उत्थान-पतन का रहस्य क्या है ? समझ में नहीं आता विद्वानों के पास जाकर पूछा तो बोले—सुनो पतन का कारण:—"**देवाश्च वा आसुराश्चोभये प्रजापत्याः पस्पर्धिरे। ततोऽसुरा अतिमानेनैव—कस्मिन् नु वयं जुहुयामेति स्वेष्वेवास्येषु जुहुतश्चेरुः। ते अतिमानेनैव पराबभूवुः। तस्मान्नातिमन्येत ॥**"[१]

देव (दान की भावनाओं से पूर्ण) और असुर (स्वप्राण पोषक) दोनों ही ऐश्वर्य के लिये स्पर्धा करते हैं परन्तु असुर अहंकार के कारण हमसे बड़ा कोई नहीं, हम किसको क्या दें ? यह सोचकर अपने आप ही ऐश्वर्य का उपभोग करने लगे, वे अहंकार के कारण ही पराभव को पराजय को प्राप्त हो गये, इसलिए अधिक अहंकार नहीं करना चाहिये।

बस उत्थान और पतन के मूल में नम्रता, दयालुता और अहंकार ही हैं। ऐश्वर्य को पाकर जो अहंकार आवेष्टित हुआ बस रावण की गति को प्राप्त हुआ। बल पुरुषार्थ के साथ जहाँ विनय नम्रता है वहां उत्थान ही उत्थान है। शिवाजी के उत्थान का यही राज है इसलिए कहा है "विनय धारिणे नमः" विनय धारण करने वाला देव है, नमनीय है, वन्दनीय है। अहंकार या घमण्ड से प्रमत्त ही असुर है। असुर का ऐश्वर्य चिरस्थायी नहीं, उसे तो न जाने किस दिन धूल चाटनी पड़े। राम-देव हैं। रावण-असुर है, राम लंका को जीतता है घमण्ड नहीं करता, विभीषण को प्रदान कर देता है पर ये इधर असुर हैं इन्हें कुछ ऐश्वर्य मिल गया तो लड़ रहे हैं, भाई को भी देना नहीं चाहते हैं, पर एक दिन आता है रोते हैं पछताते हैं, पराजय का मुंह देखते हैं। ठीक कहा है—"**पराभवस्य हैतन्मुखं यदातिमानः**" अधिक घमण्ड करना ही पराजय का मुख है।

---

१. मा. श. ५-१-१-१

२०. पाप की जड़

यह प्रभास क्षेत्र है। इसमें यदुवंशी लड़ मर रहे हैं। आपस की इस लड़ाई में कितने ही वीर मर चुके हैं। यह देखो भगवान् श्रीकृष्ण का इकलौता बेटा, जिसकी प्राप्ति के लिए कृष्ण ने रुक्मणी के साथ हिमालय पर बारह वर्ष घोर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया, वह भी मारा गया। विनाश की इस लीला की कोई उपमा नहीं। महाभारत के उस भयानक युद्ध में भी इन वीरों को कोई नहीं मार सका, पर आज वे अपने आप मर रहे हैं। किसी ने वृष्णि कुल प्रदीप कृष्ण को सूचना दी—तुम्हारे कुल का दीप बुझ रहा है तुम कहाँ सो रहे हो ? श्रीकृष्ण ने कहा—मैंने तो भैया बलराम को प्रभास क्षेत्र में यज्ञोत्सव मनाने की तैयारी के लिए भेजा था। यह क्या कह रहे हो ? सन्देशवाहक ने कहा—हे देव ! जाकर देख लो, वहाँ क्या हो रहा है ? भगवन् भी पहुँचे देखकर स्तब्ध रह गए। हा विनाश ! हा विनाश ! कह उठे। आज गीता का आध्यात्मिक उपदेष्टा भी हतप्रभ है कुछ करते नहीं बनता। हा प्रद्युम्न ! तुम भी मर गये ! शोक से विह्वल होकर, संसार की नश्वरता एवं हीनता को लख कर विमुख हो गया वार्ष्णेय भी। जनकल्याण की प्रवृत्ति को छोड़ जंगल की तरफ चल दिया है।

"योगेनान्ते तनुत्यजाम्" को साकार करने के लिए। नहीं कर सका विश्व का कल्याण, विश्व की बात छोड़ो, अपने घर का कल्याण नहीं कर सका। प्रयत्न न किया हो ऐसी बात नहीं, जीवन भर जूझता रहा, सुख चैन से कभी बैठा नहीं पर क्या बात थी जो जन-जन के कल्याण की पवित्र धारा में रोड़ा बन गई। विद्वान् कारण खोज रहे हैं, कुछ समझ में नहीं आता कि इस विनाश पाप की जड़ क्या है ?

---

१. भा. श. ५-१-१-१

पुरानी बात को छोड़ो यह देखो औरंगजेब ने लड़ाई छेड़ दी, घोषणा कर दी कि गद्दी को जीतकर अपने भाई मुराद को गद्दी पर बैठाऊँगा। उसकी जीत हो गई, उत्सव मनाये जा रहे हैं—मुराद के घर में। मैं अब जल्दी हिन्दुस्तान का बादशाह बनूंगा, बाबर और अकबर के राजतख्त पर बैठकर शासन चलाऊँगा, कितने ही वीर सेनापति मेरे इशारों पर मर मिटेंगे। पूरे हिन्दुस्तान—असम से लेकर बलख बुखारे तक के राजा मेरे अधीन होंगे। पता नहीं क्या-क्या सोच रहा है, खुशी-खुशी में मदिरा के प्याले पी रहा है, नशे में चूर है। आह ! आगे का नजारा बेहद दुखदायी है यह देखो औरंगजेब के सेनापतियों ने इसे रस्सियों में बांधकर औरंगजेब के पैरों में लाकर डाल दिया है। लोग सोच रहे हैं क्षण में क्या हो गया, कौन सा पाप था मुराद का ? जो इतना दारुण दुःख का जनक बन गया।

शिवाजी के पुत्र का हाल भी कुछ ऐसा ही है, वह भी यवनों के कटघरे में पड़ा है। महाराष्ट्र का प्रत्येक मराठा दुःखी है, हमारे महाराज के ज्येष्ठ पुत्र की इतनी दुर्गति का क्या कारण है ? कुछ समझ में नहीं आता। जब शास्त्रवेत्ताओं, मनीषियों के पास पहुंच कर पूछा कि इन प्रतापी राजैश्वर्य सम्पन्न लोगों की ऐसी दुर्गति क्यों हो गई ? विद्वान् शास्त्रज्ञ बोले सुनो—महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस पाप, विनाश एवं दारुण दुःख की जड़ हमें बताई है। वह क्या है सुनो:—

"अनृतं पाप्मा तमः सुरा"

अनृत की पाप की अन्धकार की जड़ है शराब। बड़े-बड़े राजप्रासादों, भव्य अट्टालिकाओं और सुखद सुन्दर घरों में झगड़ा कलह एवं अन्धेरा लाने वाली यह राक्षसी शराब है। जिस व्यक्ति ने इसका संग किया उसका राज ऐश्वर्य किं वा सर्वस्व लुट गया। यदुवंशियों के विनाश का कारण यही राक्षसी सुरा थी। मुराद की बादशाही का नाश करने वाली वही पापिनी सुरा थी। ओ दुनिया

के लोगों ! संभलो । राजा बादशाह भी जब इसकी मार से न बचे तो तुम्हारी तो हस्ती ही क्या है। नष्ट हो जाओगे, पाप के गहरे गड्ढे में गिर जाओगे, घर के दीपक बुझ जायेंगे यदि इसके पास पहुंचे। इसका संग है तो छोड़ दो आज से ही। मत बैठो उन लोगों के पास जो पापिनी को साथ रखते हैं। इनसे दूर रहने में ही कल्याण है, ऐश्वर्य है और परलोक में भी पुण्य की प्राप्ति है ! !

२१. देवताओं का अज्ञेय काव्य

काव्यशास्त्रियों के अनुसार काव्य दो प्रकार का होता है एक श्रव्य अर्थात् जिसे सुना जा सके, दूसरा दृश्य जो देखा जा सके। देवताओं के भी काव्य दोनों प्रकार के हैं।

काव्य क्या है? अमृत के सदाप्रग्राही स्रोत ही है। न जाने कितने ही मनीषियों ने, अन्वेषकों ने इन स्रोतों के मूल को खोजना चाहा, पर हार गये।

ये देखो—एक सूर्य देवता है, इसका दृश्य काव्य कितना निराला है, इस दृश्य काव्य में आपको सब रस मिलेंगे, जब यह रंगभूमि में उतरने वाला होता है तो शान्त रस की प्रवाहिका बहती है। योगी-ध्यानीजनों को तो पक्षीगण की मधुर-ध्वनि भी शान्तरस की प्रवाहिका प्रतीत होती है, चारों तरफ शान्ति का साम्राज्य है सहृदय दर्शक मुग्ध है, पर इस काव्य के नायक-नायिका गायक और वादक का रहस्य आज भी अज्ञेय है।

विहङ्ग मण्डली के गीत आज भी कल्पना के विषय हैं। सूर्य को लालिमा का सौन्दर्य कैसे मिला हुआ है बस कोई नहीं जान सका।

अब देखिये—रजनी देवी (रात्रि) का आगमन हुआ है, यह कितनी अज्ञेयता से भरी है, क्या कोई बता सकता है ? ये कितने टिमटिमाते तारे इसके सौन्दर्य को बढ़ा रहे हैं ? थोड़ी और गम्भीरता से इस दृश्य काव्य पर विचार कीजिए, इन तारों में क्या है ? ये कितनी दूर हैं ? क्या इन पर हमारे जैसे दर्शक इस लीला को देख रहे हैं ? वे क्या नहीं सोचते होंगे कि पृथ्वी का वासी नर कितना हृदयहीन है ? वह हमारे पास एक पत्र भी नहीं भेजता। पर शायद इन लोकवासियों को पता नहीं, यह देवाधिदेव परमदेव का विचित्र रंगमञ्च है यह रहस्यमय है। इसके रहस्य को जानना अल्पज्ञ जीव का सामर्थ्य कहाँ, यह अल्पज्ञ जीव तो इसका दर्शन भी साकल्येन नहीं कर सकता।

यह तो हुई दृश्य काव्य की बात। अब इन देवताओं के श्रव्य काव्य को जरा निहारिये—इस काव्य में मानो देवता स्वयं बोल उठे हैं, इस काव्य का नाम है 'वेद', जो देवाधिदेव परमेश्वर ने पवित्रतम ऋषियों की अन्तरात्मा में प्रकाशित किया था। ऋषियों ने इस काव्य-रस का जी भर-कर पान किया। इस काव्य की एक-एक ऋचा रहस्यों से पूर्ण है, यह वस्तुतः ऐसा अद्भुत काव्य है कि इसका प्रत्येक शब्द स्वर्गसुख का दोहक है। इसके यदि एक शब्द के रहस्य को पाठक साकल्येन समझ ले तो मानो स्वर्ग प्राप्त कर लिया। ऋषिमुनि इस काव्य के श्रवण-मनन में मुग्ध हैं, वे सब कुछ छोड़कर इस काव्य के रहस्य को जानने में संलग्न हैं, जिसने थोड़ा भी रहस्य जान लिया, वह आनन्दित है।

जो संसार ताप से तप रहे, उन लोगों ने जब इस महाकाव्य के सहृदय रसिकों को देखा तो विस्मित रह गये। यद्यपि इन काव्य रसिकों के पास प्रत्यक्षतः कुछ भी दिखाई नहीं देता, पर इनके आनन्दातिरेक का कोई ठिकाना नहीं। संतप्त लोगों ने इन काव्य रसिकों से कहा—"हमें भी इस अमृत का पान कराओ" वे देवतुल्य सोमपायी अत्यन्त दयालु थे, उन्होंने हमें

उस काव्य के कुछ रस-बिन्दुओं का पान कराया। हम सांसारिक जन तो लोभी ठहरे, हमारा लोभ बढ़ गया और हम उस काव्य के दर्शन-श्रवण में जुट गये, पर इस काव्य की रचना विचित्र है। एक बात समझते हैं तो हजार अज्ञेय और दीखती हैं। हम चन्द्रमा तक पहुंचे, पर सूर्य का कुछ पता नहीं लग रहा, एक सूर्य की क्या बात, अनन्त सूर्य इस महाकाव्य में अज्ञेय पड़े हैं। इधर श्रव्य काव्य के एक-एक पद्य में नानार्थों का समावेश है। हम हार गये, महर्षियों की शरण में फिर गये, हमने उनसे पूछा—"क्या आपने इस काव्य के पूर्ण अन्तर्दर्शन कर लिए" पर वे बोले—

"दुर्विज्ञानं काव्यं देवतानाम्"[1]

देवताओं के काव्य को पूर्णरूपेण कौन जा सकता है, लगे रहो, जितना जानोगे उतना आनन्द का पान करोगे ! !

२२. पापी कौन ?

कुछ लोग तो ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष ही जन-पीड़ा के कार्यों में संलग्न हैं, उन्हें छोटा बालक भी जानता है कि ये पापी हैं, दुष्ट हैं। चोर, डाकू, गुण्डे के रूप में उन्हें सब जानते हैं कि ये खतरनाक हैं। उनसे लोग सम्भल कर रहते हैं। उनका मुकाबला करने के लिए संगठन बनाते हैं, फौज रखते हैं और यदि अच्छा संगठन बन जाये तो इन चोर-डाकुओं से मानव समाज अपनी रक्षा भी कर लेता है। इन दुष्टों को राजा-प्रजा दण्ड देती और दण्ड पाकर बहुत से सन्मार्ग पर भी चल पड़ते हैं यद्यपि ये प्रत्यक्ष पापरत

---

१. मा. श. ५-५-६-१२

जन समाज के बड़े शत्रु हैं, परन्तु प्रत्यक्ष होने से ये सबकी दृष्टि में आ जाते हैं। उन्हें वेद शास्त्र में राक्षस कहते हैं—क्योंकि ये सत्कार्यों को प्रत्यक्षतः रोकने में संलग्न हैं। परन्तु इन राक्षसों से भी कुछ ज्यादा खतरनाक और भी पापी हैं। ये पापी ऐसे हैं, जो अपने को धर्मात्मा समझते हैं, समाज भी इनके पाप को समझ नहीं पाता है, ये किसी को प्रत्यक्ष रूप से सताते नहीं, किसी का धन भी नहीं हड़पते हैं, चोरी जारी से भी दूर हैं। तो आप सोचते होंगे—ऐसा आदमी तो पापी नहीं कहा जा सकता। लेकिन सुनिये महर्षि याज्ञवल्क्य के शब्दों को वे कहते हैं—

"यो वै न सुनोति न यजते तं निऋतिमृच्छति"[1]

जो न कुछ पैदा करके समाज को देता है, न यज्ञ परोपकार रूपी कार्य करता है, उसे पाप प्राप्त होने लगते हैं अथवा समझिए यह पापी हो जाता है।

ये देखिए—एक महाशय हैं, इनके पिता ने इनके लिए खूब धन कमाकर रख छोड़ा है। अब ये महाशय आराम से रहते हैं। यह सत्य है, ये शराब नहीं पीते, चोरी नहीं करते, डाका नहीं डालते, किसी को अप्रिय वचन कह दुःखित भी नहीं करते, लोग इन्हें नेक समझते हैं, वे स्वयं भी अपने आपको धर्मात्मा मान बैठे हैं।

ये एक दूसरे सज्जन हैं, इन्होंने २० वर्ष तक खूब परिश्रम किया, दिन-रात एक करके व्यापार द्वारा विपुल-धन राशि एकत्रित कर ली है। उसमें से कुछ लड़कों को देकर शेष बैंक में जमा करा दी है और अब ये आराम से रहते हैं, दिन भर कोई कार्य नहीं, सोते हैं, खाते हैं, समाचार पत्र पढ़ते हैं और प्रातः-सायं मन्दिर में पूजा करते हैं। ये अपने को

---

१. मा. श. ७-१-१-९

कृत-कृत्य समझते हैं, लोग भी इन्हें बड़ा धर्मात्मा तथा भक्त मानते हैं; क्योंकि ये किसी का धन नहीं हड़पते, किसी को दुर्वचन नहीं बोलते। वस्तुतः ये सज्जन प्रतीत होते हैं।

एक तीसरे सज्जन हैं, इन्होंने ३० वर्ष सेना में नौकरी की है, अब अवकाश प्राप्त कर चुके हैं, इन्हें अच्छी खासी रकम पेन्शन के रूप में मिलती है। ये प्रत्यक्षतः बड़े धर्मातमा हैं, घर-बार से दूर आकर आश्रम में रहते हैं। आश्रम क्या है, विश्राम साधनों से सुसज्जित है। ये प्रातः-सायं सत्संग करते हैं, प्रभु भजन में भी एक-दो घन्टा लगा देते हैं और आराम से रहते हैं। लोग इन्हें भी बड़ा धर्मातमा तथा सौभाग्यशाली समझते हैं। ये भक्तजन प्रायः कहते हैं। हमें दुनिया से क्या लेना, बहुत कर लिया अब तो आराम से रहना है और प्रभु भजन करना है। यद्यपि इनका मन प्रभु-भक्ति में नहीं लगता है पुनरपि प्रभु-भक्ति का अहंकार जरूर इनके मन में भरा है।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने जब इस प्रकार श्रुति (वेद) विरुद्ध चलने वाले धर्मात्माओं को देखा, तो वे बोले—ओ भक्तजनो! यह जीवन का श्रेष्ठ पथ नहीं है। भगवान् ने तुम्हें कहा था कि मृत्यु पर्यन्त कर्म करता हुआ जीने की कामना कर, पर तूने तो आलस्य-प्रमाद की भक्ति प्रारम्भ कर दी, उठ और देख तेरे चारों तरफ कितने ही अज्ञान-पीड़ित, निर्धन-गरीब दारुण-दुःख भोग रहे हैं। यदि तुम्हारे मन में इनके दुःखों को, दुर्गुणों को दूर करने की भावना नहीं, कर्म तत्परता नहीं, तो मत समझो तुम धर्मात्मा हो, भक्त हो किन्तु तुम पाप कर रहे हो। तुम्हारे अन्दर भी चोर, डाकू के समान निष्ठुरता है। इसलिए उठ और यज्ञ कर्म में संलग्न होकर कुछ समाज को दे, बस देना ही देवत्व है, कुछ न देना ही अरातिपना है, लेना झपटना ही राक्षसपना है। राक्षसजन फिर भी कर्म करते हैं, भले ही

उनका वह कर्म गलत है, पर उनमें कर्मण्यता है। जब ये राक्षस प्रवृत्ति के लोग किसी महापुरुष के सदुपदेश से सन्मार्ग पर आ जाते हैं तो इनमें से महापुरुष भी बनते देखे गये हैं। पर यह निष्कर्मण्य भक्त तो अपने को मिथ्या ही धर्मात्मा, भक्त मान बैठता है। अतः इसके समुद्धार का मार्ग दिखाई नहीं पड़ता, शायद यही सोचकर महर्षि याज्ञवल्क्य को ये कठोर शब्द लिखने पड़े हैं। इसलिए हे निष्कर्मण्य जन! तू राक्षस से निम्न श्रेणी में मत बैठ और इस निष्कर्मण्यता को छोड़कर परोपकार धर्म का अनुष्ठान करके ईश्वर की सच्ची भक्ति कर।

२३. देवताओं की आत्मा

लोग कहते हैं देवता अमर हैं। शास्त्रों में भी आता है देवता कभी नहीं मरते, वे अमर्त्य हैं, पर जब हम बुद्धि से विचार करते हैं, तो यह बात विश्वसनीय नहीं दीखती। यदि वे अमर हैं तो आज हमें क्यों दिखाई नहीं देते। भला भौतिक देह भी कभी अमर्त्य, अविकारी हो सकता है? कभी नहीं। जो पैदा होगा, वह अवश्य मरेगा चाहे वह देव हो या असुर उसे मरना तो अवश्य पड़ेगा। इतिहास भी इसका साक्षी है, राम और कृष्ण, ऋषि महर्षि सबके सब मर गये, यदि कोई होता तो दयार्द्र हृदय होकर क्या हमारे कल्याण के लिये हमें दर्शन न देता? इसलिये यह नहीं माना जा सकता कि देवता अमर हैं। गीता का यह श्लोक भी प्रमाण है कि "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" पैदा हुये का मृत्यु निश्चित है। पर क्या शास्त्र झूठे हैं, शास्त्रों की अन्य सब बातें सत्य हैं तो यह झूठ कैसे हो सकती है कि देवता अमर हैं। हम शास्त्रज्ञ की खोज में चल पड़े "जिन खोजा तिन पाइयां" की लोकोक्ति चरितार्थ हुई। हमें एक वेद शास्त्रों के पार द्रष्टा

विद्वान् मिल गये इनका नाम पूछने पर पता चला ये महर्षि याज्ञवल्क्य के प्रमुख शिष्य माध्यन्दिन हैं। हमने सविनय उनसे पूछा—हमारी समझ में नहीं आ रहा कि देव अमर कैसे हैं ? उनको आपके गुरु ने शतपथ ब्राह्मण में अमर्त्य कहा है। क्या वे देव कभी नहीं मरते, वे देव कहाँ रहते हैं ? उनका स्वरूप क्या है ? यह हम समझ नहीं पाये।

आचार्य माध्यन्दिन बोले—देव इसी पृथ्वी पर रहते हैं, उनका शरीर भी तुम्हारे जैसा है, पर तुम्हारी उनकी आत्मा में अन्तर है। मनुष्य बोले कैसे ? आचार्य ने कहा सुनो—महर्षि याज्ञवल्क्य ने स्वयं बताया है—

"यज्ञ उ देवानां आत्मा, यज्ञमेव तद्देवा आत्मानं कृत्वा एतस्मिन् नाके स्वर्गे लोकेऽसीदन्।"[1]

यज्ञ ही देवों की आत्मा है अर्थात् देवों की आत्मा यज्ञमय होती है, उसी यज्ञ को देव आत्मसात् करके यहीं इस पृथ्वी लोक में दुःख रहित स्वर्ग को प्राप्त होते हैं।

बस जिन लोगों के आत्मा में यज्ञ की अग्नि प्रदीप्त हो गई वही देव हो गये। मनुष्यों ने पूछा—यज्ञ की अग्नि क्या है, हम नहीं समझते। ऋषि बोले—श्रेष्ठतम कर्मों का नाम यज्ञ है, श्रेष्ठतम कार्य पुरुष एकाकी कभी नहीं कर सकता, उसके लिये उसे संगतिकरण करना पड़ेगा, संगठित होना होगा। बस श्रेष्ठ पुरुषों के इस संगठित समारम्भ को ही यज्ञ कहते हैं। उस संगठित समारम्भ का कोई न कोई संकल्प किंवा उद्देश्य अवश्य होगा जो उनको कार्य में प्रवृत्त करता है उसी संकल्प को यज्ञाग्नि कहा जाता है क्योंकि यही संगठन को आगे बढ़ाता है। बस जिन लोगों में यह यज्ञाग्नि जल उठी वे देव बन गये। इसी संकल्प की सब याजकों के सम्मुख घोषणा करना ही दीक्षा कहलाती है तथा जो दीक्षा-व्रत ले लेता है वह ही देव है। यही आचार्य देव ने शतपथ में लिखा है—**देवान् एष उपावर्तते यो दीक्षते**[2]

---

१. मा. श. ८-६-१-१०

२. मा. श. ३-२-२-१०

ऐसे दीक्षित लोग संसार में अमर हैं क्योंकि उनकी आत्मा, उनका यज्ञ-संगठन इन देवों की निरन्तर आहुति से आत्म-समर्पण से अमर रहता है—यह ठीक है उनका पार्थिव शरीर समाप्त हो जाता है पर उनका संकल्प रूपी आत्मा संसार में चलता रहता है बस इस कारण वे अमर रहते हैं एवं अमर कहलाते हैं। जिनकी आत्मा में यज्ञ एवं यज्ञाग्नि प्रतिष्ठित नहीं वे मरणधर्मा हैं मर्त्य हैं, जब उनका कोई संकल्प ही नहीं तो उनके शरीर पात के बाद उनका क्या है जिससे लोग प्रेरणा लेकर कुछ प्राप्त करें। देव केवल अमर नहीं हो जाते वे सच्चे स्वर्ग की रचना करते हैं, वे स्वर्ग सुख को भोगते हैं और मर कर भी स्वर्ग पाते हैं।

यह सुनकर मनुष्य बोले—बात समझ में आ गई फिर तो हम भी देव बन सकते हैं, स्वर्ग यहीं बना सकते हैं। हे महर्षे! हम आपके ऋणी हैं, आपने हमारा अन्धकार दूर कर दिया। हम भी आज से देवों के यज्ञ में सम्मिलित होते हैं, आप हमें आशीर्वाद दीजिये जिससे हम जीवन में स्वर्ग देखें!!

२४. स्वाध्याय का अद्भुत फल

फलों के प्रति प्रत्येक मानव लालायित है। उसे विश्वास है मैं यदि कर्म करूंगा तो फल तो भगवान् अवश्य देगा। इसलिये सुख रूप फलों की लालसा से लगा है कर्म करने में। आस्तिक की बात छोड़ो, नास्तिक लोग भी कर्म फल व्यवस्था में आस्था रखते हैं, उन्हें भी विश्वास है हम जो काम करेंगे उसका फल जरूर निकलेगा इसलिये वे भी फलाकाङ्क्षा से किसी न किसी अच्छे-बुरे काम में संलग्न हैं।

भगवान् का काम है फल देना, वह देता है। नास्तिक आस्तिक सबको उनके कर्मों के अनुसार फल देना उसका काम है। हम कर्म करते हैं तथा सुख और दु.ख पाते रहते हैं। पुण्य का फल सुख है। तो पाप का फल दुःख। सभी सुख चाहते हैं इसलिये पुण्य कर्मों के अनुष्ठान के प्रति सभी भद्रजनों के मन में उत्सुकता है। पुण्य कर्म क्या है ? जब हमने शास्त्रकारों से पूछा तो वे बोले—बल बुद्धि पुरुषार्थ से उपार्जित धन का पात्र को दान ही सबसे बड़ा पुण्य है, यह परोपकार रूप धर्म ही मनुष्य को पशुओं से पृथक् करता है परन्तु क्या पुण्य के फल स्वरूप सुख को पाकर मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है, शान्ति की शाश्वत स्थिति को प्राप्त कर सकता है। ऋषि बोले—नहीं, इस सारी पृथ्वी को धन-धान्य से भरी हुई को भी देकर मानव शाश्वत शान्ति नहीं पा सकता, दान का फल सुख है, पर नहीं जानते महर्षि पतञ्जलि ने योग दर्शन में स्पष्ट अपना अनुभव लिखा है—"सुखानुशायी रागः" (योगदर्शन) सुख के साथ राग का उद्भव है, राग स्वयं में एक क्लेश है।

यह देखो युधिष्ठिर है। यह बहुत बड़ा पुण्यकर्मा है। सारी पृथ्वी इसने जीत ली। आज इसका अश्वमेघ यज्ञ समाप्त हुआ है। सारी पृथ्वी के रत्नों को, धनों को दान देने में लगा है पर क्या इसका हृदय शान्त है ? नहीं। इससे पूछो, पूछने पर बतायेगा हम राजाओं को शान्ति कहां, शान्ति का पान तो ऋषि करते हैं। हम यह सुनकर घबरा गए, यह क्या बात है, यह चक्रवर्ती सम्राट् भी शान्त नहीं। हम बैठ गये शास्त्रज्ञ के चरणों में। हमने कहा—आप वेद शास्त्र पढ़ते हैं हमें वह पुण्य कर्म बताओ जिससे हम अकिञ्चनों का कल्याण हो, शान्ति मिले।

विद्वान् बोले—शतपथ के रचयिता महर्षि याज्ञवल्क्य का नाम सुना होगा, वे बड़े भारी विद्वान् थे, वेदों के सार को उन्होंने समझा था, उन्होंने

वेदों का व्याख्यान करते हुये लिखा है। हमने बड़ी उत्सुकता से पूछा क्या लिखा? विद्वान् बोले सुनो—**यावन्तं ह वा इमां पृथ्वीं वित्तेन पूर्णां ददत् लोकं जयति त्रिस्तावन्तं जयति य एव विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते—तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।"**[1]

धन से परिपूर्ण इस पृथ्वी का दान करके जिस पुण्य लोक (सुख-विशेष) का लाभ होता है, उससे तीन गुणा अर्थात् सर्व-विधि-शान्ति रूप सुख उसे मिलता है जो समझदार व्यक्ति प्रतिदिन स्वाध्याय करता है। इसलिये स्वाध्याय करना चाहिये।

हम बोले भगवन् हम बहुत पढ़ते हैं—अनेकों ग्रन्थ पढ़ डाले हमने, पर शान्ति नहीं मिली हमें, इसका क्या कारण है? विद्वान् बोले तुम स्वाध्याय का अभिप्राय केवल ग्रन्थ पढ़ना समझ बैठे हो इसलिये शान्ति से दूर हो। सुनो स्वाध्याय के दो अर्थ हैं एक—स्व+अध्याय=अपना अध्ययन अर्थात् आत्मचिन्तन। प्रातःकाल स्नान करके एकान्त में बैठकर क्या कभी सोचते हो, चिन्तन करते हो कि मैं क्या कर रहा हूं, मेरा स्वरूप क्या है यह संसार कैसा है। क्या कभी विचारते हो? हमने कहा नहीं, तो शान्ति कहां से मिले। दूसरा स्वाध्याय का अर्थ है सु+अध्याय=अर्थात् अच्छे वेद शास्त्रों का, उपनिषदों का एकान्त शान्त स्थान पर बैठकर सुविचारपूर्वक अध्ययन करना। जो इस प्रकार स्वाध्याय करता है वह संसार में रहता हुआ भी, कर्म करता हुआ भी निर्लिप्त रहता है। सांसारिक सुख-दुःख उसे नहीं सताते क्योंकि उसे चिन्तन से निश्चय हो जाता है कि सुख-दुःख इन्द्रियों तक सीमित है। फिर वह शाश्वत शान्ति की अनुभूति करता है। यह स्वाध्याय का महान् फल जो धन से दौलत से कदापि प्राप्त नहीं होता इसलिये ऋषियों ने कहा। हे शान्ति के इच्छुक मनुष्य! नित्य स्वाध्याय कर **"स्वाध्यायात् मा प्रमदः"** स्वाध्याय में प्रमाद मत कर!!

---

१. मा. श. ११-५-६-३१

२५. किसको सूर्य रास्ता नहीं दिखाता शीतल पानी भी किसकी प्यास नहीं बुझाता

यहां महर्षि याज्ञवल्क्य सत्संग कर रहे हैं। हजारों लोग बैठे हैं एक भक्त उठा और हाथ जोड़ महर्षि से प्रश्न किया—यदि संसार में सूर्य न निकले तो क्या हो ? पास में बैठे महर्षि के एक शिष्य बोले—अच्छे प्रश्न करते हो, अरे नहीं जानते, यदि संसार में सूर्य न निकले तो अन्धेरा छा जाये, लोग गड्ढों में गिर पड़ें, रास्ता तक दीखे नहीं।

इधर एक दूसरे भक्त खड़े हुए और उन्होंने प्रश्न किया—यदि चन्द्रमा न निकले तो क्या हो दुनिया का। तो एक शिष्य बोले—यदि रात में चन्द्रमा न निकले तो ओषधियों के फलों का परिपाक कैसे होगा और चन्द्रमा के बिना रात्रि रूपी रमणी का शृङ्गार कैसे सजेगा !

एक तीसरे भक्त ने पूछा—यदि पानी बहना बन्द हो जाये तो संसार का क्या हो ? तो एक शिष्य बोले—यदि पानी न बहे तो पेट में कैसे जायेगा, हम गंगा के किनारे भी तड़प जायेंगे। बड़ा विनाश होगा।

महर्षि याज्ञवल्क्य मुस्कराये और बोले—ओ भक्तजनो ! सूर्य न निकले चन्द्रमा का उदय न हो, पानी बहने से रुक जाये तो तुम सोचते हो बड़ा विनाश होगा, पर इस महा विनाश से बड़ा विनाश भी एक है। यह सुनकर सभा में सन्नाटा छा गया। भक्तजन तो क्या बड़े-बड़े शिष्य भी स्तब्ध रह गए, सोचने लगे इससे बड़ा विनाश क्या होगा, यदि सूर्य का उदय न होगा। पानी नहीं बहेगा तो बचेगा क्या ? कुछ समझ नहीं आया कि यह बड़ा विनाश क्या हो सकता है ? ऋषि बोले—जानते हो उस महाविनाश को ? भक्तजन बोले— नहीं महर्षे ! हमें उस महाविनाश का ज्ञान नहीं, कृपा करके हमें इस महाविनाश का ज्ञान कराओ। महर्षि याज्ञवल्क्य बोले

सुनो—"यन्ति वा आपः। एत्यादित्यः। एति चन्द्रमाः। यन्ति नक्षत्राणि। यथा ह वा एता नेयुर्नकुर्युः। एवं हैव तदहर्ब्राह्मणो भवति। यदहः स्वाध्यायं नाधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।"[1] देखो! पानी चल रहा है, सूर्य, चन्द्रमा भी गतिमान् हैं, नक्षत्र भी घूम रहे हैं। यदि ये देवता अपना काम एक साथ बन्द कर दें तो निश्चित रूप से अनर्थ होगा। वैसा ही अनर्थ, विनाश उस दिन होता है, जिस दिन यथार्थ ज्ञान का इच्छुक व्यक्ति स्वाध्याय नहीं करता, उस दिन मानो सूर्य भी नहीं निकला, चन्द्रमा का उदय नहीं हुआ, पानी ने बहना बन्द कर दिया। भाव यह है कि स्वाध्याय (आत्मचिन्तन) हीन पुरुष को यह चमकता सूर्य कल्याण का मार्ग नहीं दिखा सकता। वह सूर्य के प्रकाश में भी अपने सुपथ से विचलित हो जाता है। यह चन्द्रमा की चान्दनी जो आह्लाद की, आनन्द की जननी है, वह भी उसकी आत्मा के ताप को नहीं हरती, हरने की बात छोड़ो यह स्वाध्यायहीन पुरुष इस शीतल चन्द्रिका में बैठा हुआ भी और अधिक जलता है अहो गंगा का यह पवित्र एवं शीतल वारि (पानी) भी इसकी अशान्ति रूप पिपासा का शमन करने में समर्थ नहीं। क्या गंगा के विमल तटवासी स्वाध्याय विहीन जन पाप रत नहीं, दुःख मग्न नहीं।

ऋषि गंभीर स्वर में फिर बोले—आः कितना नासमझ यह अज्ञानी है—नाशवान्, अनित्य पदार्थों के संग्रह में निरुद्देश्य होकर पापरत है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, ठगता है, रिश्वत-खोरी और काला व्यापार करता है पर अन्त में पाता क्या है? कुत्ता बन जाता है, बैल बन जाता है, दुःख भोगता है, क्या यह महाविनाश नहीं? भक्त बोले—सत्य कहते हो महाराज आपने हमारा अज्ञान दूर कर दिया। महर्षि बोले—समझ गये, भक्त बोले—हाँ! तो महर्षि ने कहा—"स्वाध्यायो ऽध्येतव्यः" आत्म चिन्तन करो। आत्म-चिन्तन के आधारभूत वेदादिशास्त्रों को पढ़ो!

---

१ मा॰ श॰ ११-५-८-१०

२६. मौत किसको नहीं सताती !

मौत का डर सबसे बड़ा डर है। नाली के कीड़े से लेकर मनुष्य व हाथी पर्यन्त सब इससे भय करते हैं। ऋषियों ने लिखा है मृत्यु का भय बड़े-बड़े विद्वानों को भी नहीं छोड़ता। मृत्यु की आशंका से ही हमारा हृदय काँप उठता है।

परन्तु यहाँ दूसरा ही दृश्य है, सारे शरीर पर छाले पड़े हुए हैं, शरीर को देखकर लगता है मृत्यु यम सामने आ गया है। पर यह महापुरुष इस यमराज को देख किंचित् भी नहीं घबराता, इसके मुख पर प्रसन्नता दिख रही है मुख से वेदों की ऋचायें मुखरित हो रही हैं। पास में अपने को बुद्धिमान् समझने वाला नास्तिक खड़ा है, वह सोच में पड़ा है—यह क्या बात है, हम तो मृत्यु की झलक से कांप उठते हैं, छटपटाने लगते हैं पर यह शांत है इसे कुछ भी डर नहीं इसकी अविचलता का, निर्भयता का क्या कारण है।

ऐसा ही एक दृश्य इधर है। यह एक महात्मा है, इसे पता लगा यहाँ एक भयंकर राक्षस पुरुष नरभक्षक हो गया है, जिसे पाता है मार खाता है। लोग भयभीत हैं, आधे तो उसे देखते ही घबरा कर मर जाते हैं। महात्मा ने सोचा भक्तों के इस दारुण दुःख को दूर करना मेरा कर्त्तव्य है उसने घोषणा कर दी—उस दानव से मत घबराओ मैं अपने उपदेश से उस महादानव को सन्मार्ग पर लाने जा रहा हूं। लोग बोले—महात्मन् ! आप हमारे लिये अपने प्राण मत दीजिये वह दानव उपदेश नहीं सुनेगा। महात्मा बोले—तुम खेती करते हो खून पसीना बहाकर अन्न पैदा करते हो, भयंकर गर्मी में तुम्हारी पत्नियाँ रोटियाँ बनाती हैं और हम आराम से मांग कर खा लेते हैं, क्या हमारा कर्त्तव्य नहीं ? क्या हमारा धर्म नहीं जो दुष्टों को सन्मार्ग पर लाने के लिए कुछ करें, मैं नहीं मान सकता और रोकते-रोकते

चल दिये उस दिशा की ओर जिधर दानव का निवास था। लोग आश्चर्यचकित हैं क्या इन्हें मौत का डर नहीं, जो निर्भय होकर जा रहे हैं? इनकी चाल में भय नहीं दीखता इसके मुखमण्डल पर निर्भयता की चमक है। कुछ समझ नहीं आता क्या बात है। महादानव भी इनको देखकर दंग है, कैसे निर्भय होकर आज यह आदमी इधर आ रहा है, क्या इसे पता नहीं इधर मानव-मांसभक्षी दानव रहता है ऐसा कभी नहीं हो सकता। आस-पास के सभी लोग मेरे भय से भयभीत हैं इधर पैर धरते ही कांप जाते हैं पर यह मेरी ओर ही आ रहा है। दानव आश्चर्य से पूछता है—ओ आने वाले! क्या नहीं जानता मैं मानवभक्षी दानव हूं। महात्मा बोले—जानता हूं तुम्हारे पास ही आया हूँ। दानव बोला—क्या तुझे मृत्यु का डर नहीं? महात्मा बोले—नहीं। दानव सोच में पड़ गया, क्या बात है आज तक ऐसा आदमी नहीं देखा। दानव ही नहीं हम भी सोचते हैं क्या बात है? जो इन महापुरुषों को मौत का भी डर नहीं रहता है। हमने इन महात्मा से पूछा तो वे बोले महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने शतपथ ब्राह्मण में इस रहस्य का उद्घाटन किया है। हम बोले—वह क्या रहस्य है? हम भी जानना चाहते हैं। महात्मा बोले सुनो—

"ब्रह्म वै मृत्यवे सर्वाः प्रजाः प्रायच्छत्। तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छयत्।"[1]

भगवान् ने सारी प्रजा को मृत्यु का दुःख प्रदान किया है परन्तु ब्रह्मचारी इस मृत्यु दुःख से दूर है।

हमने पूछा—ब्रह्मचारी किसे कहते हैं? महात्मा बोले—जो व्यक्ति सर्वदा तेल धारा के समान ब्रह्म के अन्दर विचरण करता है अर्थात् उसकी सत्ता की अनुभूति करता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है। इस प्रकार का व्यक्ति मृत्यु को जीत लेता है, उसे मृत्यु का भय किंचित् भी नहीं रहता।

१. मा. श. ११-३-३-१

बस जिनका मन भौतिक पदार्थों में आसक्त है वह मृत्यु से काँपता है क्योंकि वह जानता है मरते ही यह सब कुछ छूट जायेगा। पर जिनका मन इन भौतिक पदार्थ से विरक्त होकर एक ईश्वर में विचरता है वह मृत्यु से क्यों डरेगा, वह तो निर्भय होकर अपने रक्षक प्रभु में रमण करता हुआ आनन्द लोक में रहता है।

२७. यज्ञ का आत्मा कौन?

यदि हमारे शरीर में आत्मा न हो तो सब जानते हैं यह शरीर कुछ भी नहीं कर सकता, करने धरने की बात छोड़ो, उलटा दुर्गन्ध को छोड़ने लगता है। लोग कहने लगते हैं अब इसे घर में रखने से कोई लाभ नहीं, जल्दी श्मशान ले चलो अन्यथा इससे रोग फैल सकता है।

जैसे शरीर के सारे अंग उपांग आत्मा की शक्ति से शुद्ध पवित्र एवं कार्यक्षम होते हैं ठीक इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ का एक आत्मतत्त्व होता है जो उसकी सत्ता बनाये रखने में परम सहायक होता है। जैसे अग्नि का आत्मा उसका दाहकत्व एवं प्रकाश है यदि ये गुण अग्नि में न रहे तो अग्नि निरात्म होकर भस्म मात्र रह जाता है फिर वह कुछ नहीं कर सकता।

श्रेष्ठ पुरुषों के संगठनरूपी यज्ञ का भी कोई आत्मा होना चाहिए जिसके कारण यज्ञ के अंग प्रत्यंग गतिमान् रहते हैं और यज्ञ अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। यज्ञ पुरुष का आत्मा क्या है, क्या है वह मुख्य तत्त्व जिससे यज्ञ वास्तव में यज्ञ कहलाता है। हम विचारते रहे पर कुछ समझ नहीं आया कि संगठन का आत्मा संगठन में जीवन संचार करने वाला

आत्मतत्त्व क्या है। हमने सोचा—महर्षि याज्ञवल्क्य यज्ञपुरुष की आत्मा के प्रत्यक्षकर्त्ता होंगे, हम खोजते हुए उनके आश्रम में पहुंचे और उनके चरणों में अपनी शङ्का को प्रस्तुत किया। वे बोले तुमने बड़ा गूढ़ प्रश्न किया। यज्ञ (संगठन) का आत्मा क्या है, यह जानना मनुष्यों के लिये आवश्यक है क्योंकि संगठन के बिना पुरुष सफल नहीं हो सकता, उसका जीवन माता-पिता के संगठन से प्रारम्भ होता है जिसकी उत्पत्ति स्थिति संगठनजन्य है, वह बिना संगठन के, बिना यज्ञ के कैसे रह सकता है। इसलिए मानव को किसी न किसी संगठन में अवश्य सम्मिलित होना पड़ेगा। अतः संगठन के आत्मतत्त्व को समझना आवश्यक है, अज्ञान से निरात्म अथवा दुष्टात्म संगठन में आप फंस गये तो राख में फूंक मारने के समान सारा प्रयत्न व्यर्थ होगा। हमने सविनय कहा—ऋषिवर इसीलिए तो हम जानना चाहते हैं यज्ञ का आत्मा क्या है ? महर्षि बोले—

"आत्मा वा यज्ञस्य यजमानः। अंगानि ऋत्विजः। यत्र आत्मापूत पूतानि तत्र अंगानि।"[1]

यज्ञ (श्रेष्ठ पुरुषों का संगठन) का आत्मा यजमान है। ऋत्विज यथा समय कार्य करने वाले कार्य करता ही इस यज्ञ के अंग हैं। जहाँ आत्मा पवित्र है वहाँ अंग पवित्र रहते हैं। ऋषि बोले—संगठन का आत्मा क्या है और उसके अंग क्या हैं, समझ गये होगे। हमारी समझ में पूर्णतया नहीं आया था, हमें चुप देख ऋषि बोले ध्यान से सुनो—यज्ञ कहते हैं श्रेष्ठ पुरुषों के संगठन को जिसका उद्देश्य प्रत्येक प्राणी को सुख शान्ति से युक्त करना होता है। संगठन का एक नेता अथवा संचालक होना चाहिए। जिस संगठन का कोई एक सर्वमान्य नेता नहीं वह संगठन निरात्म है, मृत है। वह अपने उद्देश्य की पूर्ति में कदापि सफल नहीं हो सकता। और जिस संगठन के अनेक नेता हों वह संगठन भी ठीक ऐसा होगा जैसे एक नौकर के कई मालिक हों और एक

---

१. मा. श. १२-८-१-१९

ही समय में भिन्न-भिन्न आदेश देने लगे तो वह भृत्य कोई भी कार्य नहीं कर सकता और जिनके यज्ञ का यजमान तो (नेता) है परन्तु अपवित्र है, झूठा है, धोखेबाज है तो वह संगठन वह यज्ञ धूर्त लोगों का समुदाय बन जाता है। वह जहाँ अपने आप दुःख सागर में डूबता है वहाँ अन्यों को भी डुबा मारता है।

इसलिए अपने संगठन का नेता उसे बनाओ जो पवित्र हो सत्यपरायण हो। जब नेता यजमान पवित्र होगा तो उसके अंग रूप इसके सदस्य अपने आप पवित्र होंगे। जैसे जब हमारा आत्मा पवित्र होता है तो हमारे हाथ चोरी के लिए चेष्टा नहीं करते, पैर दुष्कर्म करने नहीं चलते, आंख किसी को बुरी निगाह से नहीं देखती, ठीक इसी प्रकार जब संगठन का नेता पवित्र होगा, त्यागी, तपस्वी होगा, तो सदस्यों को पवित्र बनाने के लिए चेष्टा करने की जरूरत नहीं। जब माता-पिता पवित्र हैं तो सन्तान स्वयमेव पवित्र होगी। हमारी समझ में आ गया, हम बोले—ऋषिवर! आपने हमारी आँख खोल दीं, हम यज्ञ के आत्मा को समझ गये और समाज के उत्थान-पतन का कारण भी हमारी समझ में आ गया।

२८. यज्ञ का शिर क्या ?

मनुष्य की यह प्रवृत्ति है कि वह अपनी कल्पनाओं को साकार रूप देना चाहता है। मूर्तियाँ भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। उसने सूर्य जैसे प्रचण्ड देवता की भी मूर्ति कल्पित कर ली। सूर्य ही नहीं वह तो अदृश्य भावनाओं की भी मूर्ति कल्पित करने से नहीं चूका। शास्त्रों में भी इसी शैली का दर्शन होता है। भगवान् जो निराकार है, अगोचर है, उसके

भी हजारों हाथ-पैरों का वर्णन वेदों में उपलब्ध होता है। जब सब के रूप की शरीर की कल्पना यह मनुष्य कर सकता है तो यज्ञ के शरीर की कल्पना भी की जा सकती है। यज्ञ (संगठन) के अंगों का वर्णन यजुर्वेद में एक जगह आया है, वहाँ यज्ञ पुरुष के मुख ब्राह्मण तथा भुजाएं क्षत्रियों को बताया है। पर उस यज्ञपुरुष का शिर क्या हो सकता है? यह जानना जहाँ अतीव मनोरंजक है वहाँ रहस्यमय भी है। शिर शरीर का एक प्रमुख अंग है। इसमें सभी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मनबुद्धि का निवास है। शिर विहीन पुरुष किस काम का, अतः शिर तो पुरुष का सर्वस्व है। जीवन धायक अंग भी इसे कह सकते हैं। काव्यों में इसे उत्तमांग कहा है। वास्तव में यह सर्वोत्तम अंग है। शिर गया तो सब कुछ गया, फिर उसके हाथ-पैर कुछ काम करेंगे, ऐसी कल्पना कोई मूढ़ ही कर सकता है। तो इस यज्ञ का शिर क्या है? वह तत्त्व जो इस यज्ञ का पुरुष (समाज) को जीवन प्रदान करता है जिसके बल पर समाजरूपी यज्ञ पुरुष चलता है। कोई कह सकता है ज्ञान ही यज्ञ का शिर है, पर बहुत से ज्ञानवान् पढ़े-लिखे भी किसी काम के नहीं। क्या रावण पढ़ा-लिखा नहीं था? क्या दुर्योधन को ज्ञान नहीं था? पर क्या कोई चाहता है मेरे घर में रावण का जन्म हो। तो फिर यज्ञ का शिर होने का गौरव किसे प्रदान किया जा सकता है। इस समस्या को सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य बोले सुनो—यज्ञ का शिर कौन है? सब एक स्वर में बोले महर्षे! आप यज्ञ विद्या के ज्ञाता हैं, आप हमें यज्ञ का शिर क्या है, यह बताकर कृतार्थ करें। ऋषि बोले सुनो—

"शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् व्रतम्। एतत् खलु व्रतस्य रूपं यत् सत्यम्।"[1]

व्रत ही यज्ञ का शिर है। सत्य ही व्रत का यथार्थ स्वरूप है। जिस यज्ञ में सत्य का व्रत नहीं, लोग सत्य का पालन नहीं करते, छल प्रपंच में

१. मा. श. १२-८-२-२५

संलग्न हैं, वह समाज पुरुष शिर हीन है। शिर हीन की गति क्या है यह सब जानते हैं। इसलिए हम जब यज्ञ की दीक्षा देते हैं तो सबसे पहले सत्यव्रत का आधान यज्ञकर्त्ता के हृदय में कराते हैं। क्योंकि सब कुछ होने पर भी यदि सत्य नहीं तो वह कुछ भी नहीं कर सकता है। संसार इसी सत्यव्रत के सहारे चल रहा है जितना ही यह यज्ञपुरुष सत्यव्रत का पालन करेगा उतना ही समाज सुख समृद्धि युक्त होगा। इसलिए यदि अपने यज्ञ में पूर्णता लाना चाहते हो तो मत रखो उस आदमी को अपने संगठन में जो झूठ बोलता है, छल प्रपंच करता है। वह तो यज्ञ पुरुष के शिर पर प्रहार करता है। लोग बोले—ऋषिवर ! आपने ठीक कहा—असत्यवादी का कौन विश्वास करेगा। बिना विश्वास के समाज की कल्पना नहीं की जा सकती इसलिए सत्यव्रत सचमुच यज्ञ का शिर है ! !

२९. स्वर्ग कहाँ पर

स्वर्ग की महिमा सभी धर्मग्रन्थों में आती है। प्रायः प्रत्येक आदमी एक मधुर आशा को अपने हृदय में संजोये रखता है कि मैं इन पुण्य कर्मों से स्वर्ग जाऊँगा। र लोग स्वर्ग की कल्पना इतरलोक में करते हैं। पर दूसरा लोक देखा किसने ? मनुष्य तो प्रत्यक्ष प्रिय है, वह यहीं पर अपनी आकांक्षाओं को साकार करने में लगा हुआ है। वह यहीं पर स्वर्ग देखना चाहता है, पर स्वर्ग का जो वर्णन पुराने शास्त्रों में मिलता है उसका तो यहां कहीं भी दर्शन नहीं हो रहा। याज्ञिक कहते हैं, यज्ञ करने से स्वर्ग मिल जाता है पर प्रतिदिन अग्नि में घी फूंकने वाले मन्त्र रटन्तों के यहां

भी स्वर्ग के लक्षण दिखाई नहीं देते। जो यहीं दुःख भोग रहे हैं, ईर्ष्या, द्वेष की अग्नि में जल रहे हैं, भला वे मरने पर स्वर्ग पा जायेंगे, ऐसा हम कैसे मानें, मान भी लें तो भी ऐसे अप्रत्यक्ष स्वर्ग के लिए अधिकतर जन पुण्य कर्मों में प्रवृत्त नहीं हो सकते। इसलिए लोगों की समझ में नहीं आ रहा स्वर्ग कहाँ है ? किसी ने सुझाया—महर्षि याज्ञवल्क्य ही इस प्रश्न का उत्तर यथोचित दे सकते हैं। सब बोले—चलो उन्हीं से पूछेंगे। सभी उनके चरणों में उपस्थित होकर श्रद्धानत भाव से बोले—भगवन् ! हमारी समझ में यह बात नहीं आ रही है कि स्वर्ग कहाँ पर है ? कुछ लोग कहते हैं देवों का स्वर्ग कहीं दूसरे लोक में है, पर आपने एक जगह यह भी लिखा है कि :—"**इह एव देवा**"[1] देव यहीं पृथ्वी पर रहते हैं, देव यहीं होते हैं। महर्षि बोले—हमने ठीक लिखा है, स्वर्ग-नरक यहीं पृथ्वी पर ही होते हैं, देव यहीं पर रहते हैं। पर हमने अनेक बार लिखा है कि देव और मनुष्य में कोई आकृति का अन्तर नहीं जैसे मनुष्य वैसी ही आकृति वाले देव होते हैं। मनुष्य बोले—फिर देव और मनुष्य को पृथक् हम कैसे जानें ? ऋषि बोले—यह जानना कठिन नहीं, जहां देव हैं वहाँ स्वर्ग सुख-शान्ति है, आपस में प्रेम एवं सौहार्द्र्य का वातावरण उनमें होता है। लोगों ने पूछा—तो देव कैसे बना जा सकता है ?

महर्षि बोले—"**यो वै दीक्षते स देवनामेको भवति**"[2] जो यज्ञ—पवित्र कर्म करने का संकल्प अपने हृदय में धारण कर लेता है, बस वह देवों में से एक हो जाता है। संकल्प की पूर्ति बिना ज्ञान के—यथार्थ बोध के नहीं कर सकता इसलिए उस देवत्व के इच्छुक को ज्ञान-प्राप्ति करनी होगी, देव उसे यथार्थ ज्ञान का दान करेंगे, यह दीक्षा-व्रत जितनी जल्दी जो व्यक्ति धारण करेगा और उसकी योग्यता प्राप्ति के प्रमुख साधन ज्ञान को प्राप्त करेगा वही महान् देव बनेगा। बस जहाँ यह ज्ञानयज्ञ चल पड़ा है

१. मा. श. ४-२-४-१
२. मा. श. ३-२-२-१०

अज्ञान जनित आसुर प्राणों का हनन जहाँ प्रारम्भ हो गया वहीं पर स्वर्ग शुरू हो जाता है इसलिये तो हमने लिखा है:—

"एष वै स्वर्गो लोको यत्रपशून् सञ्ज्ञपयन्ति"[१]

जहाँ पशु सदृश अबोध बालक वा व्यक्तियों को ज्ञान कराया जाता है वह ज्ञान यज्ञ स्थान ही स्वर्ग है। इस यज्ञ से यहीं पर स्वर्ग मिलता है। हमने बार-बार लिखा है जो इस यज्ञ का अनुष्ठान करता है वह यहीं पर फल पा जाता है। जहाँ-जहाँ के लोगों की संकल्पाग्नि प्रबुद्ध हुई और ज्ञान का प्रकाश प्रारम्भ हुआ तो ईर्ष्या द्वेष समाप्त। जब उसके हृदय में परोपकार की अग्नि जल उठी तो सांसारिक दुःख उसमें भस्मीभूत क्यों न होंगे। वह तब इस संसार में रहता हुआ भी स्वर्ग में रहता है। ज्ञान का प्रकाश उसे सुपथ का बोध कराता रहता है। इसलिए ज्ञान की उपासना करो, ज्ञान ही देवत्य का प्रापक है, अज्ञान ही दुःखों का मूल है। उलटा ज्ञान असुरत्व का जनक है इसलिए महापुरुष ज्ञान यज्ञ के करने में लगे हैं, जो उनके ज्ञान यज्ञ में बैठा बस स्वर्ग में पहुंचा, यही स्वर्ग प्राप्ति का रहस्य है। इसलिए हे देव बनकर स्वर्ग की कामना करने वाले लोगो! देवों के ज्ञान यज्ञ के होता—आदाता बनो।

३०. धन से अमृत प्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती!!

सड़क पर रोड़ी कूटने वाला मजदूर भी रात को जब गाढ़ निद्रा में पड़कर सोता है तो ७-८ घण्टे के लिए संसार के दुःख दर्दों को भूलकर

१ मा. श. १३-२-८-५

अमृत का पान कर लेता है। परन्तु यह देखो आज विशाल पृथ्वी का स्वामी महाराजा धृतराष्ट्र बेचैन है। उसे जब से संजय ने आकर कठोर शब्दों में कहा है कि कल सभा में ही मैं बताऊँगा अजात शत्रु युधिष्ठिर ने क्या निश्चय किया हुआ है बस, तब से हृदय जल रहा है, नींद का पता नहीं कहाँ मर गई। सोच रहा है अब निश्चयेन युद्ध होगा। भीम मेरे पुत्रों को मारने की प्रतिज्ञा कर चुका है। उसके विकराल गदा प्रहार मानो अभी आ आकर गिर रहे हैं। दुःखियों को नींद कहां। विदुर का स्मरण आता है। विदुर महात्मा हैं। उसकी आत्मा में शान्ति की प्रतिष्ठा है। उसी को बुलाता हूं। उसके उपदेश कुछ तो शान्ति प्रदान करेंगे। सन्देश वाहक का सन्देश पाकर विदुर सोचते हैं, राजा भी न जाने कैसे होते हैं, निर्धन से निर्धन भी इस समय निद्रा सुख का उपभोग कर रहा है पर राजा को नींद नहीं आती। विदुर जी ने पहुंचते ही सब कुछ जान लिया बहुत से उपदेश दिये बहुविधि दृष्टान्तों से समझाया कि राजन्! धन के लोभ में आकर भूमण्डल का विनाश न कराओ। पाण्डवों को भी कुछ देकर कुरुकुल का रक्षण करलो। धृतराष्ट्र बोले—पर दुर्योधन तो सूई की नोक जितना भी स्थान नहीं देने की घोषणा कर चुका है। विदुरजी बोले—तुम पुत्र के मोह में पड़कर धर्म को भूल अन्धे हो चुके हो, याद रखो तुम्हारा पुत्र भी इस धन का उपभोग सदा-सदा नहीं कर सकता। हे तात! महर्षि याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट लिखा है—**"अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन"**[1] धन के द्वारा आदमी अमृत के पाने की आशा नहीं कर सकता, संयोग का वियोग तो जरूर होगा। एक दिन अवश्य यह धन छूट जायेगा फिर इस तुच्छ धन के लिये इतना बड़ा विनाश—इतना बड़ा पाप क्यों? लाखों-करोड़ों का खून इस महायुद्ध में बह जायेगा। धृतराष्ट्र मुझे उस विनाश

---

१. मा. श. १४-४-३-३

लीला का प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है। यह धन छूट जाएगा, तुम रोते ही रह जाओगे। पर मोह का पर्दा कितना भयंकर पड़ा है, नहीं मानता। आग पर नाचने का साहस करता है।

परन्तु जिनका मोहावरण हट गया उनकी स्थिति दूसरी ही है। ये देखो महर्षि याज्ञवल्क्य हैं। ये राजाओं के गुरु हैं। बड़े-बड़े विद्वान् ऋषि हाथ में समिधा लेकर इनके पास आते हैं। राजेमहाराजे धन की बर्षा इनके लिये करने में सौभाग्य मानते हैं। विशालतम विश्वविद्यालय के ये कुल-पिता हैं। हजारों राजकुमार और ऋषिकुमार इनकी दैवी प्रजा है। कितनी ही सुवर्ण भूषित द्रोणदुग्धा (बीस सेर दूध देने वाली) गायें इनके महाविद्यालय का धन है। पर आज ये इस प्रतिष्ठित पद को छोड़ रहे हैं। क्यों? क्योंकि उन्होंने जान लिया है कि यह धन-माया मोक्ष प्रदान करने वाले नहीं। इसको अपने आप छोड़ देने में ही अमृत की प्राप्ति है।

इसलिए ऋषियों ने मर्यादा बनाई कि ५० वर्ष की आयु होते ही छोड़ दो इस माया मोह को, लग जाओ आतमा की खोज में, जिसके साक्षात् होने से मानव को शाश्वत शान्ति की उपलब्धि होती है।

॥ ओ३म् ॥

लेखकरचित संस्कृत गीतानि

(१)

कविराग आदितालम्

स्मर वारं वारं मानस स्मर जगदाधारम् ।

मोक्षकुटीर परमशमधारं शान्तिशरीरं भव कर्त्तारम् । स्मर....

वेदरवामृतसम्पवितारं विश्वस्थितिलयहेतुविहारम् । स्मर....

परमहंसहृत्कृतसञ्चारं नानाऽविद्याबलसंहारम् । स्मर....

(२)

जञ्झोटि आदितालम्

पिब रे तारसं रसने पिब ओम्-रसं रसने

क्लेशरागपातकसन्दूरं पूरितनानाविधफलसारम् । पिबरे....

जननमरणभयहर्त्तारं शोकरोगनिकरनिसंहारम् । पिबरे....

मुनिजनवृन्दवदनबहुगीतं मनः पूरञ्च तैः परिपीतम् । पिबरे....

(३)

नवरोजराग आदितालम्

मानस सञ्चर रे ब्रह्मणि मानस सञ्चर

नन्दनकाननकुञ्जविहारे सेवकजनहृद्गृहसञ्चारे । मानस....

निगमशमननिधानप्रपूरे महनीयकृपालुपरमशमरे । मानस....

परमहंसचकोरस्य चन्द्रे परिपूरितानन्दरसधारे । मानस....

अनुसन्धान पीठ को जिनका आशीर्वाद सदा प्राप्त रहता है

१. स्वामी सर्वानन्दजी महाराज
२. स्वामी ओमानन्दजी महाराज
३. स्वामी सत्यपतिजी महाराज
४. स्वामी विजयानन्दजी महाराज
५. पं. युधिष्ठिरजी मीमांसक

पीठ के परामर्शदाता पूज्य विद्वान्

१. आचार्य पं. विजयपालजी (बहालगढ़)
२. प्रो. धर्मवीरजी, संयुक्त मन्त्री, परोपकारिणी सभा
३. आचार्य श्री हरिदेवजी, वेद विद्यालय, गौतम नगर, दिल्ली
४. डा. कृष्णपालजी, डी. ए. वी. कॉलेज, अजमेर
५. श्री रामस्वरूपजी 'रक्षक', पर्यावरण सुख

सदा सहयोग में तत्पर महानुभाव

१. श्री भगवान सहायजी (अजमेर)
२. श्री हनुमान प्रसादजी चौधरी (उदयपुर)
३. श्री चौधरी मित्रसेनजी (रोहतक)
४. अध्यापक श्री रामकरणजी, कड़ैल (अजमेर)
५. श्री प्रो. राजपालजी बरहाणा (रोहतक)
६. श्री भरतकुमारजी (बिलासपुर)
७. श्री धर्मेन्द्रजी (देहली)
८. श्री वेदप्रकाशजी गुप्ता (अजमेर)
९. श्री योगेन्द्रजी (बिलासपुर)

लेखक के अन्य प्रकाशित ग्रन्थ

(१) **शतपथ के दशपथ (प्रथम भाग)** **मूल्य २० रु.**
देवयाजी कौन और आत्मयाजी कौन? देवों का राक्षस हन्ता महान् शास्त्र आदि शतपथ के दस विभिन्न प्रेरणाप्रद प्रसङ्गों की रोचिष्णु व्याख्या की गई है। पाठकों को व्याख्या निश्चितरूपेण प्रभावित करती है।

(२) **शतपथ के दशपथ (द्वितीय भाग)** **मूल्य २० रु.**
अग्नि का आधान कहाँ करे? देव तथा उनकी तृप्ति से अमृत फल की प्राप्ति आदि शतपथ के दस प्रसङ्गों की हृदयस्पर्शी व्याख्या लेखक ने पाठकों के विशेष आग्रह पर लिखी है। प्रथम भाग के समान इसे भी पाठकों ने खूब पसन्द किया।

(३) **शतपथ और गौ** **मूल्य ५ रु.**
इस लघु ग्रन्थ में गौ के विषय में प्रचारित मिथ्या धारणाओं का सप्रमाण प्रत्याख्यान किया है। पूना के पण्डित इस निबन्ध से इतने प्रभावित हुये कि इसका मराठी अनुवाद भी प्रकाशित कर दिया।

(४) **दर्शपूर्णमासेष्टि रहस्य प्रकाश** **मूल्य ७ रु.**
अमावस्या एवं पूर्णिमा को किये जाने वाले यागों के विधि-विधानों की शतपथब्राह्मण के आधार पर व्याख्या की गई है। इस ग्रन्थ का भी पूना से मराठी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

प्राप्तिस्थान

प्राच्य वैदिक विद्यानुसन्धान पीठ

तिलोरा (पुष्कर क्षेत्र)

अजमेर (राजस्थान) ३०५०२२